जैन भारती

वर्ष 51 • अंक 10 • अक्टूबर, 2003

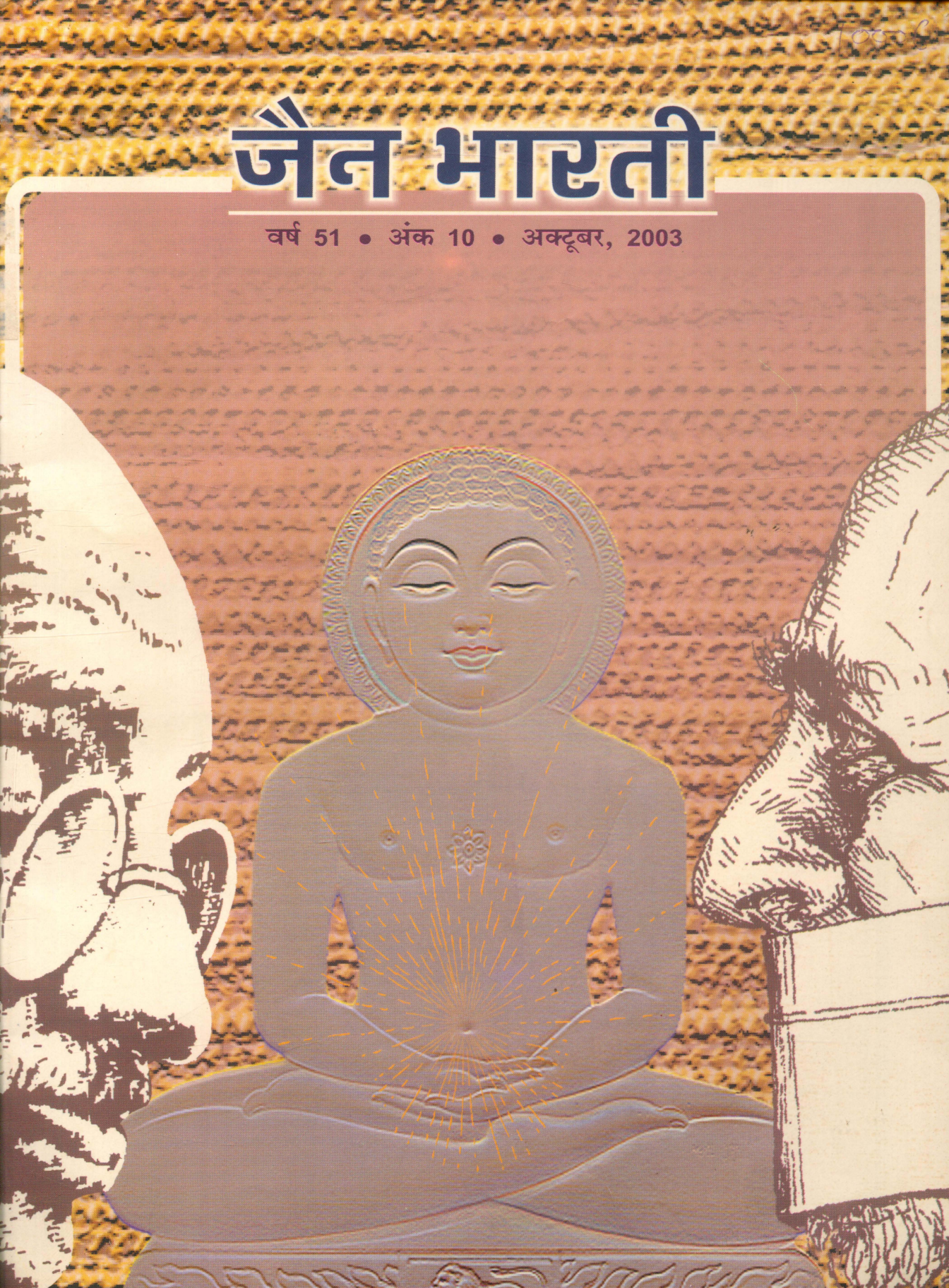

With best compliments from :

KOTHARI METALS LTD.

website : www.kotharimetal.com

SPECIALISTS IN NON FERROUS METALS

Head Office :

'Lords', 7/1 Lord Sinha Road, 5th Floor
Kolkata 700071

Phone : (033) 22828532/8534/7949 | Fax : (033) 22828462
e-mail : vikashji@cal2.vsnl.net.in

Branches at :

Delhi • Mumbai • Gurgaon • Bhiwadi (Rajasthan)
• Ludhiana (Punjab)

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 51 • अक्टूबर, 2003 • अंक 10

विमर्श

9
समणी मंगलप्रज्ञा
जैन आगम साहित्य : उद्भव और सर्वमान्यता

22
वी. एम. तारकुंडे
नैतिक मूल्य और सामाजिक संस्थाएं

अनुभूति

27
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
अहिंसा : विसंगतियों का समीचीन उपचार

30
युवाचार्यश्री महाश्रमण
बहुश्रुत कौन

34
समणी डॉ. कुसुमप्रज्ञा
वात्सल्य और कठोरता : अनुशासन शैली के अंग

39
कहानी
वीरेन्द्र कुमार जैन
कैवल्य का प्रभामंडल

46
कविता
नेमिचन्द्र जैन की कविताएं

प्रसंग

5
शुभू पटवा
महावीर का पुनराविष्कार

शीलन

49
मो. क. गांधी
तीन प्रश्न

51
बालकथा
राधावल्लभ त्रिपाठी
डाकू बचा सूली चढ़ने से

•

आवरण
अडिग

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर • फोन : 2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये • त्रैवार्षिक 500/- रुपये • दसवर्षीय 1500/- रुपये

यह बहुत पुराना और व्यापक विश्वास है कि इस जगत का कोई कर्ता है, किसी ने इसे बनाया है। यह देख ही पड़ता है कि बहुत-सी बाधाओं के रहते हुए भी मनुष्य जी रहा है, पशु-पक्षी जी रहे हैं, नक्षत्र, सूर्य, चंद्र, पहाड़, समुद्र सभी बने हुए हैं, अतः जगत का पालन भी हो रहा है। इस बात के मानने में लाघव होता है कि जो कर्ता है, वही पालक है। इसी प्रकार यह भी माना जाता है कि वही एक दिन जगत का संहार भी करेगा। इस कर्ता-पाता-संहर्ता को ईश्वर कहते हैं।

ईश्वर प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, अतः उसका ज्ञान अनुमान और शब्द-प्रमाण से ही हो सकता है। जब तक सर्वसम्मत आप्तपुरुष निश्चित न हो जाए तब तक शब्द-प्रमाण से काम नहीं लिया जा सकता। विभिन्न संप्रदायों में लोग आप्त माने गए हैं, उनका ईश्वर के संबंध में एकमत्य नहीं है। जो लोग ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते उनमें कपिल, जैमिनि, बुद्ध और महावीर जैसे प्रतिष्ठित आचार्य हैं। अतः हमको शब्द-प्रमाण का सहारा छोड़ना होगा। अब केवल अनुमान रह गया। इसमें यह हेतु बतलाया जाता है कि प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई रचयिता होता है, इसलिए जगत का भी कोई रचयिता होना चाहिए। इस अनुमान में कई दोष हैं। हम यदि यह मान लें कि प्रत्येक वस्तु का कर्ता होता है तो फिर वस्तु होने से ईश्वर का भी कर्ता होगा और उसका कोई दूसरा कर्ता, दूसरे का तीसरा। यह परंपरा कहीं समाप्त न होगी। ऐसे तर्क में अनवस्था-दोष होता है। इससे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा माना जाए कि ईश्वर को कर्ता की अपेक्षा नहीं है तो फिर ऐसा मानने में क्या आपत्ति है कि विश्व को कर्ता की अपेक्षा नहीं है? फिर, ऐसा मानना कि प्रत्येक वस्तु कर्तृक होती है साध्यसम है। सूर्य-चंद्रमा कर्तृक हैं, इसका क्या प्रमाण है? समुद्र और पहाड़ को बनाए जाते किसने देखा है? जब-तक यह सिद्ध न हो जाए कि प्रत्येक वस्तु का कर्ता होता है तब तक जगत का कोई कर्ता है—ऐसा सिद्ध नहीं होता।

—संपूर्णानंद

शब्द-ज्ञान को प्रमाण मानने में लाभ यह है कि उससे हमारे उच्छृंखल तर्क पर अंकुश लग जाता है। बहुश्रुतों द्वारा संचित ज्ञान-राशि से हमें अपूर्व आलोक मिलता है। हेयोपादेय का अपूर्व चिंतन मिलता है और वह सब-कुछ मिलता है जो साधना के लिए एक साधक को चाहिए। किंतु पाने वाला केवल प्रकाश ही नहीं पाता, कुछ-न-कुछ अंधकार भी पाता है। ज्ञान-राशि में अंधकार नहीं होता। हम कोरे ज्ञान को नहीं लेते, आगम के आशय को नहीं लेते, साथ-साथ शब्दों को भी पकड़ते हैं और शब्दों की पकड़ जितनी मजबूत होती है, उतनी आशय की होती ही नहीं। चातुर्मास में मुनि को एक जगह रहना चाहिए, यह आगमिक विधान है। वर्षाकाल में हरियाली और जीव-जंतु अधिक उत्पन्न होते हैं, मार्ग जल से भर जाते हैं, पानी गिरता है—इन कारणों से चातुर्मास में विहार करने का निषेध है। दक्षिण भारत में कुछ प्रदेश ऐसे हैं, जहां कार्तिक के पश्चात् बरसात शुरू होती है। आशय को पकड़ा जाए तो वहां चातुर्मास शरद् और हेमंत में होना चाहिए। किंतु शब्दों की पकड़ ऐसा होने नहीं देती। शब्दों को पकड़कर विचार-भेद खड़ा कर देने की समस्या नई नहीं है। इसका सामना भी सभी को करना पड़ता है। इसके द्वारा अनेकता भी उत्पन्न हुई है।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

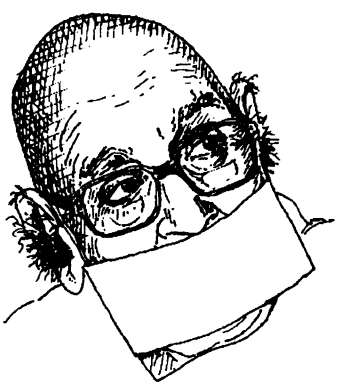

आप लोग मान बैठे हैं कि अभी कलियुग है। इसमें सत्य से काम नहीं चल सकता। पर मैं आपसे कहना चाहता हूं कि आप इस कलियुग की बात को भूल जाएं। जब तक आपके सिर पर कलियुग का यह भूत सवार रहेगा, तब तक आप सत्य को सही रूप में ग्रहण नहीं कर सकेंगे। अतः आप तो यही सोचकर चलें कि अभी सतयुग है और हमें सत्य की साधना करनी है।

आगमों में कहा गया है—'सच्चम्मि धिइं कुव्वहा'—सत्य में धैर्य रखो। 'सच्चं लोयम्मि सारभूयं'—सत्य लोक में सारभूत है। सत्य समुद्र के समान गंभीर और मेरु के समान ध्रुव है। सब विद्याएं सत्य प्रतिष्ठित हैं—'जे वि य लोगम्मि अपरिसेसा...विज्जा...सव्वाणि वि ताइं सच्चे पइट्ठियाइं।'

ऋग्वेद में भी कहा गया है—'ऋतस्य पथा प्रेतः'—सत्य के पथ पर चलो। सत्य की साधना करो। साधना का फल तत्काल नहीं मिलता। इसलिए फलाभाव में अपने धैर्य को मत खोओ। निष्ठा के साथ सत्य की साधना करो।

—आचार्यश्री तुलसी

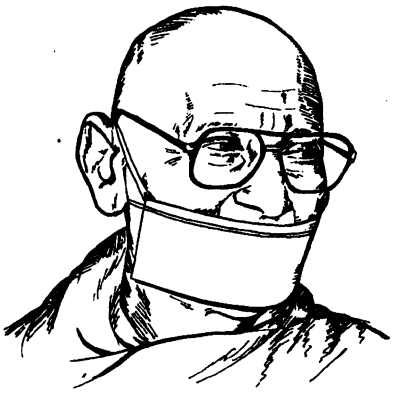

वैज्ञानिक धर्म की एक कसौटी है—अपने कार्य के लिए अपने-आप को उत्तरदाई मानना। बहुत लोग अपने कार्य के लिए स्वयं को उत्तरदाई नहीं मानते, वे परिस्थिति या परमसत्ता को उत्तरदाई बतलाकर स्वयं अपने उत्तरदायित्व से बचने का प्रयत्न करते हैं। 'मैं क्या करूं, परिस्थिति ही ऐसी थी, इसलिए यह कार्य हो गया। मैं क्या करूं, परमात्मा की ऐसी ही मर्जी थी, इसलिए ऐसा हो गया।' परमात्मा की इच्छा के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता तो फिर कर्तृत्व को मैं अपने पर कैसे ओढ़ सकता हूं? इस परिस्थिति या परम-सत्ता की परतंत्रता ने मनुष्य की स्वतंत्रता या उत्तरदायित्व पर आवरण डाल रखा है। जब तक मनुष्य अपने कर्म के लिए अपने उत्तरदायित्व का अनुभव नहीं करता, उसकी स्वतंत्र चेतना का विकास नहीं हो सकता। स्वतंत्र चेतना का विकास होना आज की बहुत बड़ी अपेक्षा है। इसके अभाव में विकास में अवरोध बनने वाले अनेक मानसिक भ्रम पैदा हुए हैं। उन भ्रांतियों में जाने वाला व्यक्ति अपनी यांत्रिक चेतना से मुक्त नहीं हो सकता।

कर्म का सिद्धांत धर्म की वैज्ञानिकता का स्वयंभू साक्ष्य है। बहुत-सारे धर्म-कर्म के सिद्धांत को स्वीकार करते हैं, किंतु उसकी एकांगिता को स्वीकार कर मनुष्य को यंत्र बना देते हैं। जो-कुछ होता है वह सब कर्म से ही होता है। यह चेतना का यांत्रिकीकरण है। वस्तुतः यह इष्ट नहीं है। कर्म मनुष्य की चेतना को प्रभावित करने वाला एक तत्त्व है। वह सर्वेसर्वा नहीं है। काल, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति आदि अनेक तत्त्व हैं जो मनुष्य की चेतना को प्रभावित करते हैं। चेतना केवल प्रभावित ही नहीं है, अप्रभावित भी है। यदि केवल प्रभावित होने की बात हो तो उसका अपना अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। उसमें अप्रभावित रहने की क्षमता है, इसलिए वह अपने अस्तित्व को बनाए रख सकती है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

जैन भारती
अक्टूबर, 2003

प्रसंग

महावीर का पुनराविष्कार

मानवीय समस्याओं पर विचार करने से पहले हमें यह देख लेना जरूरी है कि मानवीयता या कि मनुष्यता क्या है?

एक रोमन नाटककार टेरेंस अपने पात्र से एक संवाद कहलवाते हैं—'मैं एक मनुष्य हूं, इसलिए जो चीज मानवीय नहीं है, उससे मेरा कोई संबंध नहीं है।' प्रश्न उपस्थित होता है कि मानवीय क्या है? क्योंकि—'मनुष्य होने के नाते जो मानवीय नहीं है, उससे मेरा कोई संबंध नहीं हो सकता।' यहीं हमारे सामने यांत्रिकता का विकास और उससे पनपने वाली विषमताएं आ उपस्थित होती हैं। दुर्भाग्य से हमारे कथित आधुनिक समाज ने आज इसी विकास को मानवीय विकास मान लिया है। जबकि मनुष्य की आत्मा का विकास ही मनुष्य का विकास या कि मनुष्यता अथवा मानवीयता का विकास है। आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास ने मनुष्य की आत्मा के विकास को कुंठित किया है। हम आज के मनुष्य समाज में जो मानवीय समस्याएं देख रहे हैं—वे इसी विकास की परिणतियां हैं।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रति ऐसी प्रतिरोधी राय का आधार भी हमें स्पष्ट होना चाहिए। विज्ञान और प्रौद्योगिकी आज 'बाजार' के हाथों की कठपुतली बने हुए हैं। इनके विकास ने ही भौतिक संसाधनों में इजाफा किया है और इन्हीं से मनुष्य की लालसाएं बढ़ी हैं। मेरा मानना तो यह भी है कि 'बाजार' के हाथों में नियंत्रित ताकतों के ही कारण भौतिक संसाधनों के लिए उपभोक्ताओं की अविराम, असमाप्त कतार हर समय खड़ी नजर आ रही है। प्रौद्योगिकी के इस विकास ने कुछ ऐसे सरंजाम भी खड़े कर डाले हैं कि मनुष्य की लालसाएं सदा-सदा अनन्त ही बनी रहें, वे कभी पूरी हों ही नहीं। अनन्त लालसाओं ने जो मानवीय समस्याएं खड़ी की हैं, उससे न केवल घृणा और विनाश की परिस्थितियां बलवती हुई हैं—एक हिंसक, असदाशयी, असहिष्णु, अराजक समाज की शिलाएं भी मजबूत हुई हैं।

हम सभी जानते हैं कि जो चीज मानवीय नहीं है, कोई मनुष्य उससे स्थाई संबंध जोड़ कर नहीं रह सकता। यह भी नहीं हो सकता कि सुख-सुविधाओं से वह पूरी तरह से वंचित भी रह सके। ठीक इसी तरह विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास को अवरुद्ध भी नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में एक विकल्प हमारे सामने यही है कि क्या विज्ञान और प्रौद्योगिकी को बाजार की ताकतों से मुक्त कर 'आध्यात्मिकता' का छोटा-मोटा नियंत्रण उस पर स्थापित किया जा सकता है?

मुझे लगता है कि महावीर की प्रासंगिकता यहीं पर दृष्टिगत होती है। महावीर की शिक्षाएं मनुष्य के पल्ले यदि थोड़ी भी पड़ जाएं तो आध्यात्मिकता का नियंत्रण लगा पाना आसान हो सकता है। लेकिन यह बात इतनी सरल नहीं है। यहीं पर हमें शिक्षा के उद्देश्य को भी स्पष्ट करना होगा। शिक्षा का उद्देश्य न तो केवल जानकारी एकत्र करना हो सकता है और न तकनीकी-कौशल प्राप्त कर लेना मात्र ही माना जा सकता है। शिक्षा का उद्देश्य क्या है? डॉ. राधाकृष्णन तो इसे दूसरा जन्म मानते हैं। वे कहते हैं—'हमें एक दृष्टि प्राप्त करनी होगी जो जानकारी और तकनीकी-कौशल के आगे भी देख सके।' ऐसा होने से ही महावीर की शिक्षाओं को देखने-समझने की परिस्थितियां पैदा

हो सकेंगी। हमें यह मानना चाहिए कि जीवन के बाहरी पक्ष पर अधिक ध्यान केंद्रित रहने से ही मानवीय समस्याओं के विष-फण ऊपर उठे हैं। आध्यात्मिक पक्ष की अवहेलना से हम जितना मुक्त होंगे, उतना ही इस समस्या से भी निजात पाते जाएंगे।

आज हमारी स्थिति बड़ी दुरूह है। देखा जाए तो मनुष्य आज विरोधाभासी जीवन जी रहा है। जो अच्छा काम मुझे करना चाहिए, नहीं करूंगा; और बुरा काम, जो मुझे नहीं करना चाहिए; मैं करूंगा। इसीलिए आज मनुष्य-समाज व्याकुल है, संतप्त है। घृणा, ईर्ष्या, संदेह, वैर, संघर्ष व फूट किस कदर एकता और भाईचारे की सरस धारा के आड़े आ रहे हैं—हम देख ही रहे हैं। देश में घटित विषम घटनाएं इन्हीं का प्रतिफल है। इससे मुक्ति के लिए महावीर हमारे सहायक हो सकते हैं।

कैवल्य प्राप्ति के बाद महावीर ने जिन सूत्रों का प्रतिपादन किया—हमें उस ओर दृष्टिपात करना चाहिए।

महावीर ने कहा—1. किसी प्राणी को आहत मत करो। 2. किसी प्राणी पर शासन मत करो, पराधीन मत करो। 3. किसी प्राणी का परिग्रह मत करो—दास-दासी मत बनाओ। 4. किसी प्राणी को परितप्त मत करो। 5. किसी प्राणी के प्राणों का वियोजन मत करो। 6. क्रोध का सेवन मत करो। 7. लोभ का सेवन मत करो। 8. भय मत करो—व्याधि, जरा और मौत से भी मत डरो। 9. हास्य मत करो। 10. बुरा चिंतन मत करो। 11. असत्य मत बोलो। 12. ब्रह्मचर्य का आचरण करो। 13. निर्वाण का संधान करो। 14. अदत्त मत लो—चोरी मत करो। 15. आसक्ति को छोड़ो—संग्रह मत करो। 16. हाथ, पैर, मन और इंद्रियों का अपने-आप में समाहार करो।

महावीर की इन शिक्षाओं से जिस समाज का निर्माण हो सकेगा—वह परस्परता, समता, संवेदनशीलता और सह-जीवन में विश्वास रखने वाला समाज होगा, ऐसा माना जा सकता है। इसे हम स्वस्थ समाज भी कह सकते हैं। स्वस्थ समाज के निर्माण में बाधक तत्त्वों पर चर्चा करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने एक जगह कुछ बिंदु गिनाए हैं—वे बताते हैं—अहंभाव, व्यक्तिवादी दृष्टिकोण, भोगवादी प्रवृत्ति, अधिकार की मनोवृत्ति आदि स्वस्थ समाज के बाधक तत्त्व हैं। इन तत्त्वों के शमन का उपाय भी आचार्यश्री बताते हैं। वे कहते हैं—जीवन दो धाराओं में प्रवाहित है—वस्तु-जगत और भाव-जगत। अहिंसा के प्रशिक्षण, अहं के परिष्कार, परस्परता के दृष्टिकोण, त्याग-चेतना के प्रशिक्षण, विसर्जन आदि के द्वारा मनुष्य वस्तु-जगत से भाव-जगत में प्रवेश कर सकता है। बीमारी का यही उपचार है। तभी स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकता है। इन बिंदुओं की पुष्टि में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी महावीर की वाणी को आधार बनाते हैं। वे कहते हैं—'पुरुष! तू सत्य में धैर्य कर। यदि सत्य को पा लिया तो तू ने सब-कुछ पा लिया। यदि सत्य को नहीं पाया तो तू ने कुछ नहीं पाया।' इस सत्य की प्राप्ति को वे अनेकांतवाद या स्याद्वाद नाम देते हैं।

इसी प्रकार महावीर के संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—हर प्राणी सुख चाहता है, अतः किसी भी जीव की हिंसा न की जाए। महावीर कहते हैं—हर व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व है, किसी की स्वतंत्रता को कुचलने का अधिकार किसी को नहीं। महावीर के समता धर्म के प्रतिपादन की बात करते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—महावीर के धर्म का नाम क्या था? जैन धर्म नाम नहीं था। महावीर के धर्म का नाम था 'सामयिक धर्म' यानी समता का धर्म। उनका कहना है कि आज समता की आराधना शायद क्रियाकाण्ड में बदल गई। प्रामाणिकता को महावीर का सूत्र बताते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—महावीर के अनुयाई और कुछ करते हैं या नहीं, पर महावीर की पूजा अवश्य करते हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—उपासना-धर्म का उन्होंने प्रतिपादन ही नहीं किया। उन्होंने केवल आचार-धर्म, नीति-धर्म का प्रतिपादन किया। वे कहते हैं—यदि नैतिकता को, प्रामाणिकता को और चरित्र को निकाल देंगे तो महावीर का धर्म (शिक्षा) समाप्त हो जाएगा। महावीर की उदारता और जाति-मुक्ति जैसी शिक्षाएं भी काफी महत्त्वपूर्ण हैं।

मनुष्यता या मानवीयता को बनाए रखने में आने वाली हर समस्या का समाधान महावीर की शिक्षाओं में विद्यमान है। प्रश्न है कि आधुनिक संदर्भों के साथ और सम-सामयिक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में महावीर की शिक्षाओं का पुनराविष्कार कैसे हो? 'धर्म' की बाड़े-बंदी से बाहर लाकर महावीर के सिद्धांतों, शिक्षाओं की स्थापना समग्रता के साथ कैसे की जाए?

महावीर के निर्वाण की ज्योति से हमें ऐसा प्रकाश मिलेगा—यही अभीप्सा है। ऐसे दीपोत्सव के लिए शुभाशंसा।

—शुभू पटवा

विमर्श

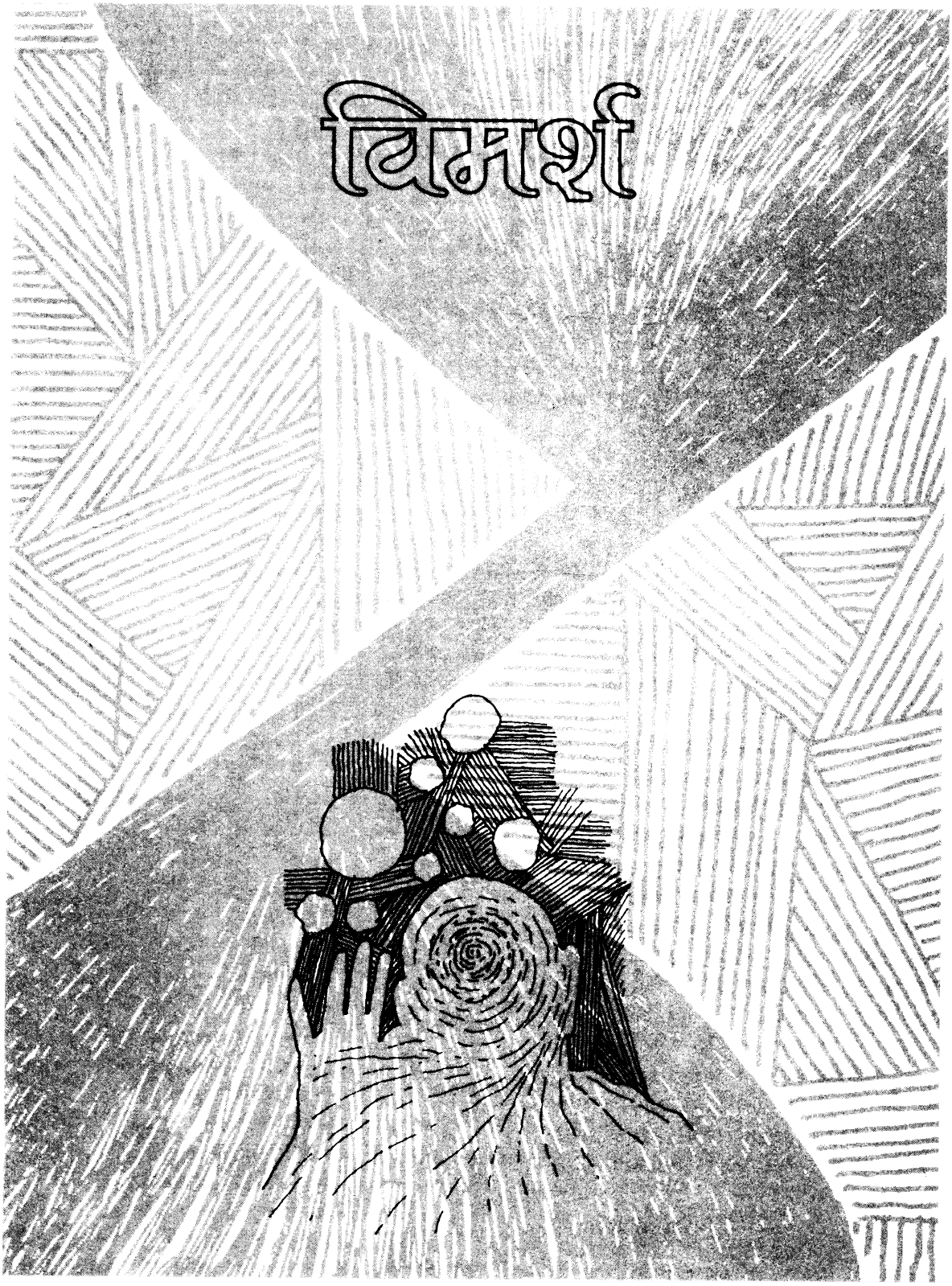

पिछले कुछ अरसे से सेकुलरवाद या धर्मनिरपेक्षता की अवधारणा को लेकर काफी बहस होती रही है। लेकिन इस बहस में अक्सर यह बात भुला दी जाती है कि धर्मनिरपेक्षता पर कोई भी बहस वस्तुतः धर्म के संदर्भ में राज्य और समाज के रिश्तों पर बहस है। सेकुलरवाद का विकास यूरोप में राज्य की संप्रभुता के विकास के साथ-साथ हुआ है। संप्रभु राज्य की अवधारणा के अंतर्गत राज्य किसी समाज के बहुत-से संगठनों में से एक नहीं बल्कि समाज का स्वामी या संचालक हो जाता है। धर्म एक समाज की आध्यात्मिक-नैतिक संवेदना की अभिव्यक्ति है जब कि राज्य उस की राजनीतिक संवेदना की अभिव्यक्ति। लेकिन राज्य की संप्रभुता का अर्थ है समाज की आध्यात्मिक-नैतिक संवेदना और उस की अभिव्यक्ति का राज्यतंत्र के अधीन आ जाना। राज्यतंत्र और राजनीतिक संवेदना में उतना ही अंतर है जितना नैतिक-आध्यात्मिक संवेदना और धर्मतंत्र में। यूरोप में भी राजनीतिक संवेदना और आध्यात्मिक संवेदना में वस्तुतः वह संघर्ष नहीं था जो राज्यतंत्र और धर्मतंत्र में हुआ और अपनी-अपनी बुनियादी संवेदना से शून्य होते चले जाने के कारण दोनों ही जड़ होकर केवल तंत्र होते गए और इसी कारण तंत्र की प्रतिष्ठा के लिए दोनों ही अपने-अपने तरीके से अत्याचारी भी हुए।

—नन्दकिशोर आचार्य

भगवान महावीर के दर्शन का एक प्रमुख सिद्धांत है—'चलमाणे चलिए' 'कडेमाणे कडं'—चलमान चलित है, क्रियमाण कृत है। जैन दर्शन में प्रत्येक तत्त्व का प्रतिपादन अनेकांत की दृष्टि से होता है। एकांत-दृष्टि के अनुसार चलमान और चलित—दोनों एक क्षण में नहीं हो सकते। एकांत-दृष्टि से इस सिद्धांत को देखने के कारण ही जमालि इसको स्वीकार नहीं कर सका और महावीर से अलग हो गया। अनेकांत की दृष्टि से चलमान और चलित—दोनों एक क्षण में होते हैं। 'चलमाणे चलिए' इस सिद्धांत की व्याख्या ऋजुसूत्रनय से होती है। ऋजुसूत्रनय के अनुसार जो चलमान है वह चलित ही है, जो क्रियमाण है वह कृत ही है। इसके अनुसार उत्पत्तिकाल और निष्ठाकाल अलग-अलग नहीं हैं।

❑❑

जैन आगम साहित्य : उद्भव और सर्वमान्यता

❑ समणी मंगलप्रज्ञा ❑

द्वादशांगी के अंतर्गत द्वितीय अंग का नाम 'सूयगडो' है। समवाय, नंदी एवं अनुयोगद्वार—इन तीनों आगमों में प्रस्तुत अंग का यही नाम उपलब्ध है।[1] निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने प्रस्तुत आगम के तीन गुणनिष्पन्न नाम बलताए हैं[2]—

1. सूतगड (सूतकत)—प्रस्तुत आगम मौलिक दृष्टि से भगवान महावीर से सूत अर्थात् उत्पन्न है तथा ग्रंथ रूप में गणधर के द्वारा कृत है इसलिए इसका नाम 'सूतकृत' है।

2. सुत्तगड (सूत्रकृत)—इसमें सूत्र के अनुसार तत्त्वबोध किया जाता है, इसलिए इसका नाम सूत्रकृत है।

3. सूयगड (सूचाकृत)—इसमें स्व और पर समय की सूचना कृत है, इसलिए इसका नाम सूचाकृत है।

वस्तुतः सूत, सुत्त और सूय—ये तीनों सूत्र के ही प्राकृत रूप हैं। आकारभेद होने से तीन गुणात्मक नामों की परिकल्पना की गई है। सभी अंग मौलिक रूप में भगवान महावीर द्वारा प्रस्तुत और गणधर द्वारा ग्रंथ रूप में प्रणीत हैं, फिर केवल प्रस्तुत आगम का ही 'सूतकृत' नाम क्यों? इसी प्रकार दूसरा नाम भी सभी अंगों के लिए सामान्य है। प्रस्तुत आगम के नाम का अर्थस्पर्शी आधार तीसरा है, क्योंकि प्रस्तुत आगम में स्व-समय और पर-समय की तुलनात्मक सूचना के संदर्भ में आचार की प्रस्थापना की गई है। इसलिए इसका संबंध सूचना से है। समवाय और नंदी में यह स्पष्टतया उल्लिखित है—

'सूयगडे णं ससमया सूइज्जंति, पर समया सूइज्जंति, समय-पर समया सूइज्जंति।'[3] जो सूचक होता है उसे सूत्र कहा जाता है। प्रस्तुत आगम की पृष्ठभूमि में सूचनात्मक तत्त्व की प्रधानता है, इसलिए इसका नाम सूत्रकृत है।

दृष्टिवाद का एक प्रकार है—सूत्र। आचार्य वीरसेन के अनुसार सूत्र में अन्य दार्शनिकों का वर्णन है।[4] प्रस्तुत आगम की रचना उसी के आधार पर की गई है, इसलिए इसका नाम 'सूत्रकृत' रखा गया। सूत्रकृत शब्द के अन्य व्युत्पत्तिक अर्थों की अपेक्षा यह अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है।

जैन आगमों के उद्भव से लेकर संपूर्ण आगम साहित्य से जैन भारती के सुधी पाठकों को परिचित कराने के उद्देश्य से पिछले अंक में आगम साहित्य की वाचना, आगम विच्छेद क्रम, आगमों का वर्गीकरण, पूर्व साहित्य के साथ-साथ आचारांग पर एक दृष्टि-पात किया गया था। प्रस्तुत है इस लेख की दूसरी कड़ी—

सूत्रकृतांग और अनुयोग

आगमों का वर्गीकरण अनुयोग के आधार पर भी हुआ है। चूर्णिकार के अनुसार सूत्रकृतांग 'चरणकरणानुयोग' है।[5]

शीलांकसूरि ने इसे द्रव्यानुयोग की कोटि में रखा है। उनके अनुसार आचारांग प्रधानतया चरणकरणानुयोग तथा सूत्रकृतांग प्रधानतया द्रव्यानुयोग है।[6]

समवाय तथा नंदी में द्वादशांगी के विवरण के अंत में 'एवं चरणकरणपरूवणा' यह पाठ मिलता है। इससे फलित होता है कि प्रस्तुत सूत्र को वे चरणकरणानुयोग के अंतर्गत मानते हैं। चूर्णिकार ने कालिकश्रुत को चरणकरणानुयोग तथा दृष्टिवाद को द्रव्यानुयोग माना है।[7]

द्वादशांगी में मुख्यतः द्रव्यशास्त्र दृष्टिवाद है। शेष अंगों में द्रव्य का प्रतिपादन गौण है। द्रव्यशास्त्र में भी गौणरूप से आचार का प्रतिपादन हुआ है। चूर्णिकार ने मुख्यता की दृष्टि से प्रस्तुत आगम को आचारशास्त्र माना है तथा वृत्तिकार ने इसमें प्राप्त द्रव्य विषयक प्रतिपादन को मुख्य मानकर इसे द्रव्यशास्त्र कहा है। इन दोनों वर्गीकरणों में सापेक्ष दृष्टिभेद है।

अंगों को पूर्वों से निर्यूढ़ माना गया है। पूर्व दृष्टिवाद के अंतर्गत है, चूर्णिकार ने दृष्टिवाद को द्रव्यानुयोग कहा है फिर द्रव्यानुयोग से चरणकरणानुयोग कैसे प्रस्तुत हो सकता है? अतः द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग—यह सापेक्ष वर्गीकरण ही है। वक्ता की दृष्टि में आचार विषयक वर्णन को प्रधानता दी जाती है, तब इसका अंतर्भाव चरणकरणानुयोग में हो जाता है। यदि प्रतिपादित विषय में तत्त्व/द्रव्य मीमांसा को प्रमुखता दी जाती है, इसको द्रव्यानुयोग कह दिया जाता है। संभव ऐसा लगता है कि प्रयोक्ता की दृष्टि के आधार पर ही इसका विभिन्न अनुयोगों में समावेश हुआ है।

आकार और प्रकार

आचारांग की तरह ही सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कंध हैं। समवाय और नंदी में इसका उल्लेख मिलता है।[8] प्रथम श्रुतस्कंध भाषा की दृष्टि से प्राचीन है तथा द्वितीय अर्वाचीन है। संभव ऐसा लगता है, उत्तरवर्ती किसी आचार्य ने दूसरे श्रुतस्कंध की सूत्रकृतांग के साथ बाद में संयोजना की है। प्रथम श्रुतस्कंध के सोलह और द्वितीय श्रुतस्कंध के सात अध्ययन हैं। प्रस्तुत आगम की पद संख्या 36 हजार बतलाई गई है। धवला में भी इसकी पद संख्या यही निर्दिष्ट है, किंतु वर्तमान में उपलब्ध सूत्रकृतांग का पद-परिमाण इतना नहीं है। आचारांग की तरह ही कालक्रम में इसका विच्छेद होता रहा है, किंतु प्रस्तुत आगम सर्वथा विच्छिन्न नहीं हुआ है। यह वक्तव्य असंदिग्ध है। धवला और जय धवला में भी इसके दो श्रुतस्कंध होने का उल्लेख नहीं है और अध्ययनों की संख्या का भी उल्लेख नहीं है।[9] धवला एवं जय धवला के उल्लेख से भी प्रतीत होता है कि प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कंध होने की परंपरा अर्वाचीन है।

विषय-वस्तु

समवाय के अनुसार सूत्रकृतांग में स्व-समय-परंपरा की सूचना, लोक-अलोक तथा जीव-अजीव आदि नौ पदार्थों की सूचना दी गई है। नवदीक्षित श्रमणों की दृष्टि परिमार्जित करने के लिए 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी एवं 32 विनयवादी दर्शनों की व्यूह-रचना कर स्व-समय की स्थापना की गई है।[10]

नंदी में प्रस्तुत आगम के प्रतिपाद्य विषय का विवरण संक्षिप्त है। उसमें स्व-समय की स्थापना का उल्लेख है, किंतु नवदीक्षित की दृष्टि परिमार्जित करने की तथा जीव-अजीव आदि नौ पदार्थों की सूचना का उल्लेख नहीं है।[11]

अंग-साहित्य में आचार-निरूपण विभिन्न संदर्भों में किया गया है। आचारांग प्रथम अंग है। उसमें वह अध्यात्म के संदर्भ में किया गया है। प्रस्तुत आगम में वह दार्शनिक मीमांसा के संदर्भ में किया गया है।

सूत्रकृतांग में प्रतिपादित दार्शनिक तथ्य

प्रस्तुत सूत्र में मुख्य रूप से अनेक दार्शनिक मतों का उल्लेख प्राप्त है। आगम रचना की शैली के अनुसार दार्शनिक मतों का तो उल्लेख है, किंतु उनके प्रवक्ता आचार्यों का नामोल्लेख नहीं है। बौद्धों के 'दीघनिकाय' के 'सामंञफलसुत्त' में जैसे तत्कालीन दार्शनिक मतवादों का वर्णन है, वैसे ही प्रस्तुत आगम में विभिन्न मतवादों का वर्णन है। क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद एवं विनयवाद—इन चार वादों का वर्णन है तथा पंचभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, नियतिवाद आदि तत्कालीन अनेक दार्शनिक अवधारणाओं का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख प्रस्तुत आगम में है।[12] इन अवधारणाओं के आलोक में जैन मंतव्य को भी स्पष्टता से समझा जा सकता है।

प्रस्तुत आगम के प्रथम अध्ययन के प्रथम श्लोक में ही ज्ञानवाद एवं आचार—दोनों का समन्वय हुआ है। 'बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा' इस श्लोकांश में यही सत्य प्रतिपादित है। जैन दर्शन कोरा ज्ञानवादी भी नहीं है और कोरा आचारवादी भी नहीं है। वह बंधन-मुक्ति के लिए ज्ञान एवं आचार—दोनों को अनिवार्य मानता है। यह तथ्य प्रस्तुत आगम में प्रतिपादित है। प्रस्तुत श्लोक में मोक्षमार्ग का प्रतिपादन हो गया है।[13]

आत्मा कर्मों के कारण संसार में परिभ्रमण करती है। संसार परिभ्रमण का हेतु कर्म है तथा कर्मबंध के मुख्य हेतु आरंभ और परिग्रह हैं। परिग्रह के लिए आरंभ किया जाता है। हिंसा परिणाम है, कार्य है। परिग्रह कारण है। इस तथ्य का प्रतिपादन भी प्रस्तुत आगम में है।

भगवान महावीर की स्तुति में प्रयुक्त विशेषणों से जैन दर्शन की 'सर्वज्ञता' की अवधारणा की प्रस्तुति भी इस आगम में हुई है। अणंतणाणी, अणंतचक्खु आदि विशेषण इस स्वीकृति की ओर इंगित करते हैं।[14] अन्य जैन दार्शनिक मान्यताओं का भी इसमें उल्लेख है।

सूत्रकृतांग की सामयिकता

प्रस्तुत सूत्र में शाश्वत सत्यों का प्रतिपादन हुआ है। देश, काल, परिस्थिति के अनुसार समस्याओं के आकार-प्रकार में अंतर आ जाता है, किंतु मूलभूत कारण वे ही रहते हैं। आज के मनोवैज्ञानिक मनुष्य की मनोवृत्ति में ही समस्याओं के बीजों का अवस्थान मानते हैं। मनुष्य की मौलिक मनोवृत्ति सदैव एक जैसी रहती है। उसके प्रकटीकरण के प्रकारों में भेद हो जाता है।

सांप्रदायिक अभिनिवेश पारस्परिक वैमनस्य को वृद्धिंगत करता है। वर्तमान में सांप्रदायिक अभिनिवेश संपूर्ण विश्व के सामने एक भयावह चुनौती है। इसके कारण भय, हिंसा, आतंक का माहौल बना हुआ है। सूत्रकृतांग के काल में भी इस भाव के दर्शन होते हैं। जिस पर सूत्रकृतांग प्रहार कर रहा है—

सयं संय पसंसंता, गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया॥[15]

'अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मतों की निंदा करते हुए जो गर्व से उछलते हैं, वे संसार को बढ़ाते हैं।'

'मेरा सिद्धांत ही सही है, दूसरा सिद्धांत सही नहीं है'—इसी आग्रह ने संघर्ष को जन्म दिया है। अनेकांत-दृष्टि वाला दूसरे सिद्धांत के विरोध में या प्रतिपक्ष में खड़ा नहीं होता, किंतु सत्य को सापेक्ष दृष्टि से स्वीकार करता है। प्रस्तुत श्लोक को अनेकांत-दृष्टि की पृष्ठभूमि में देखा जा सकता है। अनेकांतपरक चिंतन समस्याओं का समाधायक होता है। वार्तमानिक सांप्रदायिक अभिनिवेश की समस्या का निराकरण भी इस दृष्टि के आलोक में किया जा सकता है।

रचना-शैली

सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कंध पद्यशैली में लिखित है। सोलहवां गद्यशैली में लिखा हुआ प्रतीत होता है, किंतु वह भी पद्यात्मक है। निर्युक्तिकार ने गाथा शब्द की मीमांसा करते हुए कुछ विकल्प प्रस्तुत किए हैं। उनमें लिखा है कि प्रस्तुत अध्ययन गेय है, वह गाथाछंद या सामुद्रछंद में लिखित है।[16] प्रथम श्रुतस्कंध का 15वां यमकीय अध्ययन यमक अलंकार में निबद्ध है। यह आगम ग्रंथों की काव्यात्मक शैली का विरल उदाहरण है।

द्वितीय श्रुतस्कंध का बड़ा भाग गद्यशैली तथा विस्तृत शैली में लिखित है। इसमें रूपक और दृष्टांतों का भी समीचीन प्रयोग हुआ है। प्रथम अध्ययन में पुंडरीक का रूपक बहुत ही सुंदर है। इसमें संवाद और प्रश्नोत्तरी शैली का भी प्रयोग है। संवाद शैली का उदाहरण दूसरे अध्ययन में मिलता है।

रचनाकार और रचनाकाल

जैन परंपरा के अनुसार द्वादशांगी के रचनाकार गणधर हैं। इस मान्यता के अनुसार सूत्रकृतांग गणधरों की रचना है, किंतु वर्तमान में कोई भी अंग अविकल रूप में प्राप्त नहीं है। जो भी प्राप्त हैं, वे उत्तरकाल में संकलित हैं। संकलनकार के रूप में वर्तमान आगमों के रचनाकार देवर्धिगणी हैं। सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कंध प्राचीन है। द्वितीय श्रुतस्कंध प्रथम का परिशिष्ट रूप है और बाद में जोड़ा गया है।[17] इस ग्रंथ का आचार-मीमांसा एवं तत्त्व-मीमांसा—दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण स्थान है।

स्थानांग

द्वादशांगी के क्रम में स्थानांग का तीसरा स्थान है। स्थानांग संख्या-निबद्ध आगम है। इसमें समग्र प्रतिपाद्य का समावेश एक से दस तक की संख्या में हुआ है। इसी आधार पर इसके दस अध्ययन हैं। स्थानांग के विभाग अधिकांशतया स्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं। वृत्तिकार ने उन्हें अध्ययन भी कहा है।[18] प्रत्येक अध्ययन में एक ही संख्या के लिए स्थान है, इसलिए अध्ययन का नाम, स्थान रखना उचित भी है।

बौद्धों के अंगुत्तरनिकाय सूत्र की तरह ही इसमें संख्या के आधार पर विषय का वर्णन हुआ है।

अंग साहित्य मुख्य रूप से साधक के साधना मार्ग का निरूपण विधेयात्मक अथवा निषेधात्मक वचनों में करता है, किंतु स्थानांग में ऐसे वचनों का अभाव है। स्थानांग एवं समवायांग के अध्ययन से प्रतीत होता है कि ये संग्रहात्मक कोश के रूप में निर्मित किए गए हैं। अन्य अंगों की अपेक्षा इनके नाम एवं विषय भिन्न प्रकार के हैं।

स्थानांग की रचना का उद्देश्य

संख्या के अनुपात से एक द्रव्य के अनेक विकल्प करना, इस आगम की रचना का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। उदाहरणस्वरूप प्रत्येक शरीर की दृष्टि से जीव एक है।[19] संसारी और मुक्त की अपेक्षा जीव दो प्रकार के हैं।[20] इस प्रकार अलग-अलग स्थानों में उनकी संख्या के अनुसार जीव-तत्त्व का विवेचन कर दिया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र में संख्यात्मक दृष्टिकोण से तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। इन अंगों की विषय-निरूपण की शैली से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि जब सारे अंगों का निर्माण हो गया, तब उनके स्मृति अथवा धारणा की सरलता की दृष्टि से या विषयों की खोज की सुगमता की दृष्टि से स्थानांग का इस प्रकार से निर्माण किया गया तथा इसे विशेष प्रतिष्ठा देने के लिए इसका समावेश अंग साहित्य में कर लिया, ऐसा पं. बेचरदासजी दोशी का अभिमत है।[21]

आकार और प्रकार

स्थानांग वृहद् आकार वाला ग्रंथ है। इसके दस स्थान हैं तथा दस अध्ययनों में दूसरा, तीसरा, चौथा व पांचवां—ये चार अध्ययन उद्देशकों में भी विभक्त हैं। अन्य अध्ययन उद्देशकों में विभक्त नहीं हैं। दूसरे, तीसरे एवं चौथे के चार-चार एवं पांचवें के तीन उद्देशक हैं।

ठाणं का एक श्रुतस्कंध, इक्कीस उद्देशनकाल, इक्कीस समुद्देशनकाल हैं। पद-प्रमाण से इसके बहत्तर हजार पद हैं।[22] वर्तमान में इस ग्रंथ में 1,65,448 अक्षर हैं, जिनका अनुष्टुप् श्लोक परिमाण 5,170 होता है।[23]

विषय-वस्तु

प्रस्तुत सूत्र में संख्या के आधार पर विषय संकलित हैं, अतः यह नाना विषय वाला है। इसमें एक विषय का संबंध दूसरे विषय से नहीं खोजा जा सकता। द्रव्य, इतिहास, गणित, भूगोल, खगोल, आचार, ज्ञान, मनोविज्ञान, संगीत आदि अनेक विषय बिना किसी क्रम के इस ग्रंथ में उपलब्ध हैं।

अनेक ऐतिहासिक तथ्यों का भी आकलन प्रस्तुत आगम में है। भगवान महावीर के समय में श्रमणों के अनेक संघ विद्यमान थे। उनमें आजीवकों का संघ बहुत शक्तिशाली था। वर्तमान में उसकी परंपरा विच्छिन्न हो चुकी है। उसका साहित्य भी लुप्त हो गया है। जैन साहित्य में उस परंपरा के विषय में कुछ जानकारी मिलती है। प्रस्तुत सूत्र में भी आजीवकों की तपस्या के विषय में एक उल्लेख मिलता है।[24] इस आगम में ज्ञान-मीमांसा का भी लंबा प्रकरण उपलब्ध है। पुद्गल के संबंध में भी विस्तृत जानकारी इस ग्रंथ में है।

प्रस्तुत सूत्र में भगवान महावीर के समकालीन और उत्तरकालीन—दोनों प्रकार के तथ्य संकलित हैं। भगवान महावीर की उपस्थिति में तथा उनकी उत्तरवर्ती परंपरा में भी वैचारिक भिन्नता प्रकट करने वाले कुछ व्यक्ति हुए हैं। उन्हें निह्नव कहा गया है। जमालि आदि सात निह्नवों का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र में है।[25] गोदासगण आदि भगवान महावीर के नौ गणों का उल्लेख भी इसमें है।[26] ये गण महावीर के उत्तरकालीन हैं।

रचनाकार एवं रचनाकाल

परंपरा के अनुसार प्रस्तुत सूत्र सुधर्मा स्वामी की वाचना का है। सुधर्मा स्वामी भगवान महावीर के अनंतर शिष्य होने के कारण उनके समकालीन हैं, इसलिए प्रस्तुत सूत्र का रचनाकाल ईसा पूर्व छठी शताब्दी है। किंतु वर्तमान में उपलब्ध इस ग्रंथ की विषय-वस्तु का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इसमें भगवान महावीर के निर्वाण के 400-500 वर्ष बाद घटित होने वाली घटनाओं का संकलन भी है। अतः इसका रचनाकाल संकलन की दृष्टि से ईसा की चौथी शताब्दी ठहरता है।

स्थानांग में जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल—इन सात निह्नवों का उल्लेख है। इनमें से प्रथम दो के अतिरिक्त सब निह्नवों की उत्पत्ति भगवान महावीर के निर्वाण के बाद तीसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक के समय में हुई है। गोदासगण आदि नौ गणों का उल्लेख है, वे गण भी भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग दो सौ वर्ष बाद के हैं, उनमें से कुछ तो महावीर-निर्वाण के पांच सौ वर्ष बाद तक के भी हो सकते हैं। अतएव यह मानना अधिक उपयुक्त है कि इस सूत्र की अंतिम योजना वीर-निर्वाण की छठी शताब्दी में होने वाले किसी गीतार्थ पुरुष ने अपने समय तक की घटनाओं को पूर्व परंपरा से चली आने वाली घटनाओं के साथ मिलाकर की है। यदि ऐसा न माना जाए तो यह मानना होगा कि भगवान महावीर के बाद घटित होने वाली उक्त घटनाओं का समावेश प्रस्तुत सूत्र में किसी गीतार्थ स्थविर के द्वारा बाद में हुआ है।

दार्शनिक तथ्यों का प्रतिपादन

प्रस्तुत सूत्र में जैन दर्शन के अनेक दार्शनिक तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है।

जैन न्याय का तर्क है कि जो सार्थक शब्द होता है, वह सप्रतिपक्ष होता है। इस अवधारणा का आधार ठाणं '2/1' में उपलब्ध होता है—'जदत्थि णं लोगे तं सव्वं दुपओआरं'—लोक में जो-कुछ है, वह सब द्विपदावतार अर्थात् दो-दो पदों में अवतरित है—जीव और अजीव, त्रस और स्थावर इत्यादि।

जैन दर्शन द्वैतवादी है। उसके अनुसार चेतन और अचेतन—दो मूल तत्त्व हैं। इन दोनों का अस्तित्व स्वतंत्र है। चेतन में अचेतन का और अचेतन में चेतन का अत्यंताभाव है। इस दृष्टि से द्वैत सत्य है। इस द्वैत की अभिव्यक्ति जीवच्चेव अजीवच्चेव '2/1'—इस सूत्र में स्पष्ट रूप से हुई है।

जैन तत्त्ववाद के अनुसार आत्मा अनंत है। संग्रहनय अनंत का एकत्व में समाहार करता है, अतः संग्रहनय से आत्मा एक है। एगे आया '1/2'—जैन आगमों में आत्मा की एकता और अनेकता—दोनों प्रतिपादित हैं। भगवान महावीर की दृष्टि में उपनिषद् का एकात्मवाद और सांख्य का अनेकात्मवाद—दोनों समन्वित हैं। उस समन्वय के मूल में दो नय हैं—संग्रह और व्यवहार। संग्रहनय के अनुसार आत्मा एक है और व्यवहारनय के अनुसार आत्मा अनंत है।

नंदी सूत्रगत स्थानांग के विवरण में बतलाया गया है कि स्थानांग में स्व-समय, पर-समय और स्व-समय-पर-समय की स्थापना की जाती है।[27] ठाणं में आगत 'एगे आया'—यह सूत्र उभयवक्तव्यता का है। अनुयोगद्वारचूर्णि में इस सूत्र की जैन और वेदांत—दोनों दृष्टियों से व्याख्या की गई है।[28] जैन दृष्टि के अनुसार उपयोग सब आत्मा का सदृश लक्षण है, अतः उपयोग की दृष्टि से आत्मा एक है। वेदांत-दृष्टि के अनुसार आत्मा या ब्रह्म एक है।

'स्थानांग' सूत्र को जैन दर्शन से संबंधित विषयों का कोश कहा जा सकता है। इसमें तत्त्व, आचार, ज्ञान, इतिहास आदि विभिन्न विषयों का संग्रहण है।

समवायांग

जैन साहित्य में सर्वाधिक महत्त्व द्वादशांगी को प्राप्त है। प्रस्तुत सूत्र इसका चतुर्थ अंग है। इसका नाम समवाय है। इसमें विविध विषय समवेत हैं, इसलिए इसका यह सार्थक नाम है। इनके परिच्छेदों का नाम भी समवाय है। प्रथम समवाय में एक संख्या द्वारा संगृहीत विषय प्रतिपादित हैं। इसी प्रकार दूसरे में दो, तीसरे में तीन की संख्या द्वारा संगृहीत विषय प्रतिपादित हैं। सौ समवायों तक यह क्रम बराबर चलता है। उसके आगे डेढ़ सौ, दो सौ, ढाई सौ, तीन सौ—इस प्रकार संख्या बढ़ती जाती है, अंत में वह एक कोटि-कोटि सागरोपम तक पहुंच जाती है। यहां संख्यापरक समवाय पूर्ण हो जाता है। समवाय का मूलभाग इतना ही है। इससे आगे द्वादशांगी का प्रकरण है। उसके पश्चात् अनेक प्रकीर्ण विषयों का संकलन है। प्रस्तुत सूत्र संग्रह कोटि का है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का संकलन हुआ है। इसकी रचना स्थानांग जैसी है। यह एक विशिष्ट प्रकार का संकलनात्मक ग्रंथ है।

विषय-वस्तु

इसमें द्वादशांगी, पूर्व साहित्य, प्रकीर्णक साहित्य का वर्णन हुआ है। खगोल, भूगोल, ब्राह्मीलिपि, कला, शीर्षप्रहेलिका आदि गणित के विषय, कर्म, क्रिया आदि विभिन्न विषयों का समावेश प्रस्तुत आगम में है।

प्रस्तुत सूत्र में अनेक ऐतिहासिक तथ्यों की सूचना मिलती है, जैसे—भगवान महावीर ने एक दिन में एक निषद्या में चौवन प्रश्नों के उत्तर दिए थे।[29] ऐसा ही एक और उल्लेख प्राप्त है—भगवान महावीर अंतिम रात्रि में कल्याण-फलविपाक वाले पचपन अध्ययन तथा पाप-फलविपाक वाले पचपन अध्ययन प्रतिपादित कर मुक्त हो गए।[30] ऐसे और भी अनेक तथ्य प्रस्तुत आगम में प्रतिपादित हैं।

रचनाकार एवं रचनाकाल स्थानांग जैसा ही है, अतः अलग से विमर्श की आवश्यकता नहीं है।

स्थानांग एवं समवायांग का महत्त्व

स्थानांग एवं समवायांग का विविध विषय-सूचकता की दृष्टि से बड़ा महत्त्व रहा है। ठाणं एवं समवायांग के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए व्यवहारसूत्र में कहा गया है कि स्थानांग एवं समवायांगसूत्र के धारक व्यक्ति ही आचार्य, उपाध्याय, गणावच्छेदक आदि होने चाहिएं।[31]

व्याख्याप्रज्ञप्ति

द्वादशांगी के पांचवें अंग का नाम 'विआहपण्णत्ती' है। इसका संस्कृत रूपांतरण 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' है। प्रश्नोत्तर की शैली में लिखा जाने वाला ग्रंथ व्याख्याप्रज्ञप्ति कहलाता है। व्याख्या का अर्थ है विवेचन करना और प्रज्ञप्ति का अर्थ है समझाना। जिसमें विवेचनपूर्वक तत्त्व समझाया जाता है उसे व्याख्याप्रज्ञप्ति कहा जाता है। समवायांग और नंदी में व्याख्याप्रज्ञप्ति और व्याख्या—ये दोनों नाम मिलते हैं।[32] व्याख्या, व्याख्याप्रज्ञप्ति का ही संक्षिप्त रूप है।

प्रस्तुत आगम का दूसरा नाम 'भगवती' है।[33] व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र की अपनी विशिष्टता थी, इसलिए

भगवती इसका एक विशेषण था। समवायांग में विआहपण्णत्ती के साथ भगवती विशेषण रूप में प्रयुक्त है।[34] आगे चलकर यह विशेषण ही नाम बन गया। इस सहस्राब्दी में व्याख्याप्रज्ञप्ति की अपेक्षा 'भगवती' नाम अधिक प्रचलित है।

'कसायपाहुड' में परिकर्म के पांच अधिकार बतलाए हैं—चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति।[35] श्वेतांबर साहित्य में व्याख्याप्रज्ञप्ति का उल्लेख केवल द्वादशांगी के पांचवें अंग के रूप में ही मिलता है। यदि द्वादशांगी के ग्यारह अंगों को बारहवें अंग दृष्टिवाद से उद्धृत माना जाए तो दिगंबर साहित्य के आधार पर व्याख्याप्रज्ञप्ति को परिकर्म के पांचवें अधिकार 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' से उद्धृत माना जा सकता है। यह आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का मंतव्य है।[36] इन दोनों की विषय-वस्तु भी समान है। व्याख्याप्रज्ञप्ति नाम का परिकर्म रूपी-अरूपी, जीव-अजीव, भव्य-अभव्य के प्रमाण और लक्षण, मुक्त जीवों तथा अन्य वस्तुओं का वर्णन करता है।[37] तत्त्वार्थराजवार्तिक, नंदी और समवायांग में भी व्याख्याप्रज्ञप्ति के विषय का उल्लेख मिलता है, वह भी जीव-अजीव आदि द्रव्यों के वर्णन की सूचना देता है।[38]

आकार-प्रकार

समवायांग एवं नंदीसूत्र के अनुसार प्रस्तुत आगम के सौ से अधिक अध्ययन, दस हजार उद्देशक और दस हजार समुद्देशक हैं।[39] इसका वर्तमान आकार उक्त विवरण से भिन्न है। वर्तमान में इसके एक सौ अड़तीस शत या शतक और उन्नीस सौ पचीस उद्देशक मिलते हैं। प्रथम बत्तीस शतक स्वतंत्र हैं। तैतीस से उनचालीस तक के सात शतक बारह-बारह शतकों के समवाय हैं। चालीसवां शतक इक्कीस शतकों का समवाय है। इकतालीसवां शतक स्वतंत्र है। कुल मिलाकर एक सौ अड़तीस शतक होते हैं। उनमें इकतालीस मुख्य और शेष अवांतर शतक हैं।

प्रस्तुत आगम के अध्ययन को शत या शतक कहा गया है। समवायांग और नंदी में व्याख्याप्रज्ञप्ति के विवरण में अध्ययन शब्द का प्रयोग[40] एवं मूल आगम में शत शब्द का प्रयोग है, इसलिए शत और अध्ययन को पर्यायवाची माना गया है। शत का अर्थ सौ होता है। जिसमें सौ श्लोक या प्रश्न हों उसे शतक कहा जाता है। भगवती के वर्तमान रूप में इस अर्थ की कोई सार्थकता दृष्ट नहीं है।

प्रस्तुत आगम के दो संस्करण मिलते हैं। एक संक्षिप्त और दूसरा विस्तृत संस्करण। विस्तृत संस्करण का ग्रंथमान सवा लाख श्लोक-प्रमाण है, इसलिए उसे सवालक्खी भगवती कहा जाता है। इन दोनों संस्करणों में कोई मौलिक भेद नहीं है। लघु संस्करण में जो समर्पणसूत्र है—पूरा विवरण देखने के लिए किसी दूसरे आगम को देखने की सूचना दी गई है। विस्तृत संस्करण में उनको पूरा लिख दिया गया है।

भगवती में अंगबाह्य आगमों का निर्देश

व्याख्याप्रज्ञप्ति अंगप्रविष्ट श्रुत के अंतर्गत एक महत्त्वपूर्ण अंग है। उसमें अंगबाह्य आगमों के निर्देश क्यों? यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है। पं. दलसुख मालवणियाजी ने इस प्रश्न को व्यवस्थित ढंग से उभारा भी है। उन्होंने लिखा है—

'माथुरी वाचनांतर्गत अंग आगमों में जैसे कि भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति जैसे बहुमान्य आगम में जहां भी विवरण की बात है—वहां अंगबाह्य उपांगों का—औपपातिक, प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम आदि का आश्रय लिया गया है। यदि ये विषय मौलिक रूप से अंग के होते तो उन अंगबाह्यों में ही अंगनिर्देश आवश्यक था। ऐसा न करके अंग में उपांग का निर्देश सूचित करता है कि तद्विषयक मौलिक विचारणा उपांगों में हुई है और उपांगों से ही अंग में जोड़ी गई है।'[41] ऐसा क्यों किया गया पंडितजी ने इसका अंगबाह्य आगम के प्रामाण्य के आधार पर विस्तार से उत्तर दिया है।

आचार्य महाप्रज्ञ ने प्रस्तुत प्रश्न का समाधान विषय के परिवर्धन के आधार पर दिया है। उन्होंने लिखा है—'जहां-जहां प्रज्ञापना, जीवाजीवाभिगम आदि के निर्देश हैं, वे सब प्रस्तुत आगम में परिवर्धित विषय हैं। यह कल्पना उन प्रकरणों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। इसकी संभावना नहीं की जा सकती कि प्रस्तुत आगम में निर्देशित विषय पहले विस्तृत रूप में थे और संकलनकाल में उन्हें संक्षिप्त किया गया और उनका विस्तार जानने के लिए अंगबाह्य सूत्रों का निर्देश किया गया। अंगबाह्य सूत्रों में अंगों का निर्देश किया जा सकता था, किंतु अंग-सूत्रों में अंगबाह्य सूत्रों का निर्देश कैसे किया जा सकता था? वह किया गया है। इससे स्पष्ट है कि उन निर्देशों से संबंधित विषय प्रस्तुत आगम में जोड़कर उसे व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया है।'[42]

विषय-वस्तु

प्रस्तुत ग्रंथ एक आकर-ग्रंथ है। इसमें अनेक विषयों की चर्चा उपलब्ध है। गणित, इतिहास, भूगोल, खगोल, तत्त्वविद्या आदि अनेक विषयों का विस्तार से वर्णन है। प्रस्तुत

आगम के विषय के संबंध में अनेक सूचनाएं मिलती हैं। समवायांग में बताया गया है कि अनेक देवों, राजाओं और राजर्षियों ने भगवान से विविध प्रकार के प्रश्न पूछे और भगवान ने विस्तार से उनके उत्तर दिए। इसमें स्व-समय, पर-समय, जीव, अजीव, लोक और अलोक व्याख्यात हैं।[43] नंदी में भी यही विषय-वस्तु व्याख्यात है।[44] किंतु उसमें समवायांग की भांति प्रश्नकर्ताओं का उल्लेख नहीं है।

भगवती के प्रतिपाद्य विषय का आकलन करना जटिल कार्य है। आचार्य महाप्रज्ञ प्रस्तुत आगम की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए इसके विषय आकलन की दुरूहता को प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं—

'वर्तमान ज्ञान की अनेक शाखाओं ने अनेक नए रहस्यों का उद्घाटन किया है। हम प्रस्तुत आगम की गहराइयों में जाते हैं तो हमें प्रतीत होता है कि इन रहस्यों का उद्घाटन अतीत में भी हो चुका था। प्रस्तुत आगम तत्त्वविद्या का आकर-ग्रंथ है। इसमें चेतन और अचेतन—इन दोनों तत्त्वों की विशद जानकारी उपलब्ध है। संभवतः विश्व-विद्या की कोई भी ऐसी शाखा नहीं होगी जिसकी इसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में चर्चा न हो। तत्त्वविद्या का इतना विशाल ग्रंथ अभी तक ज्ञात नहीं है। इसके प्रतिपाद्य का आकलन करना एक जटिल कार्य है।'[45]

ऐतिहासिक दृष्टि से आजीवक संघ के आचार्य मंखलिगोशाल, जमालि, शिवराजर्षि, स्कंदक संन्यासी आदि प्रकरण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। तत्त्वचर्चा की दृष्टि से जयंती, मद्दुक श्रमणोपासक, रोह अनगार, सोमिल ब्राह्मण, भगवान पार्श्व के शिष्य कालासवेसियपुत्त, तुंगिया नगरी के श्रावक आदि प्रकरण पठनीय हैं। गणित की दृष्टि से पार्श्वापत्यीय अनगार के प्रश्नोत्तर बहुत मूल्यवान हैं।

भगवान महावीर के युग में अनेक धर्म-संप्रदाय थे। सांप्रदायिक कट्टरता बहुत कम थी। एक धर्मसंघ के मुनि और परिव्राजक दूसरे धर्मसंघ के मुनि और परिव्राजकों के पास जाते, तत्त्वचर्चा करते और जो-कुछ उपादेय लगता, वह मुक्त भाव से स्वीकार करते। प्रस्तुत आगम में ऐसे अनेक प्रसंग प्राप्त होते हैं जिनमें उस समय की धार्मिक उदारता का यथार्थ परिचय मिलता है।

प्रस्तुत आगम भगवान महावीर के दर्शन या तत्त्वविद्या का प्रतिनिधि सूत्र है। इसमें महावीर का व्यक्तित्व जितना प्रस्फुटित है उतना अन्यत्र नहीं है। वाल्टर शुब्रिंग के अनुसार भगवती के अतिरिक्त और कोई भी दूसरा ग्रंथ नहीं है जिसमें महावीर का जीवन-चरित्र, क्रियाकलाप इतनी प्रखरता से प्रकट हुआ हो।[46] मोरिस विंटरनित्ज (Maurice Winternitz) का अभिमत भी इसी प्रकार का है। उनके अनुसार भगवान महावीर के जीवन, कार्य, उनका अपने शिष्यों के साथ एवं अपने संपर्क में आने वालों के साथ संबंध तथा महावीर के संपूर्ण व्यक्तित्व का जैसा वर्णन भगवती में है, वैसा अन्य किसी ग्रंथ में नहीं है।[47]

प्रस्तुत आगम में गतिविज्ञान, भावितात्मा द्वारा नाना रूपों का निर्माण, भोजन और नाना रूपों के निर्माण का संबंध, चतुर्दशपूर्वी के द्वारा एक वस्तु के हजारों प्रतिरूपों का निर्माण, भावितात्मा द्वारा आकाशगमन, पृथ्वी आदि जीवों का श्वास-उच्छ्वास, कृष्णराजि, तमस्काय, परमाणु की गति, दूरसंचार आदि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकरण हैं।

प्रस्तुत आगम की विषय-वस्तु अत्यंत व्यापक एवं महत्त्वपूर्ण है।

दार्शनिक तथ्य

भगवती में अनेक महत्त्वपूर्ण दार्शनिक तथ्यों का प्रतिपादन हुआ है। इसमें जैन दर्शन की अनेक प्राचीन मौलिक अवधारणाओं का उल्लेख प्राप्त है। जिनमें से कुछेक का वर्णन प्रस्तुत है।

भगवान महावीर के दर्शन का एक प्रमुख सिद्धांत है—'चलमाणे चलिए' 'कडेमाणे कडं'—चलमान चलित है, क्रियमाण कृत है। जैन दर्शन में प्रत्येक तत्त्व का प्रतिपादन अनेकांत की दृष्टि से होता है। एकांत-दृष्टि के अनुसार चलमान और चलित—दोनों एक क्षण में नहीं हो सकते। एकांत-दृष्टि से इस सिद्धांत को देखने के कारण ही जमालि इसको स्वीकार नहीं कर सका और महावीर से अलग हो गया। अनेकांत की दृष्टि से चलमान और चलित—दोनों एक क्षण में होते हैं। 'चलमाणे चलिए' इस सिद्धांत की व्याख्या ऋजुसूत्रनय से होती है। ऋजुसूत्रनय के अनुसार जो चलमान है वह चलित ही है, जो क्रियमाण है वह कृत ही है। इसके अनुसार उत्पत्तिकाल और निष्ठाकाल अलग-अलग नहीं हैं।[48]

जैन दर्शन की महत्त्वपूर्ण अवधारणा है—पंचास्तिकाय। विश्व-विद्या के क्षेत्र में अस्तिकाय की अवधारणा जैन दर्शन की मौलिक है। लोक-स्वरूप की व्याख्या में प्रस्तुत सूत्र में कहा गया—'पंचत्थिकाया एस णं एवतिए लोएत्ति'—लोक पंचास्तिकायमय है।[49]

सृष्टि-विद्या के आलोक में पुद्गल की विस्रसा परिणति, मिश्र परिणति एवं प्रयोग परिणति का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।[50]

कर्मविद्या के संदर्भ में अल्पवेदना-महानिर्जरा, महावेदना-अल्पनिर्जरा, अल्पवेदना-अल्पनिर्जरा एवं महावेदना-महानिर्जरा के सिद्धांत का प्रतिपादन प्रस्तुत सूत्र में है।[51]

जीव पर कर्मों का आवेष्टन एवं परिवेष्टन है। कर्म एवं जीव के संबंध में यह प्रयोग नई दृष्टि प्रदान करता है।[52]

जीव और अजीव—दोनों में अपना-अपना 'स्नेह' होता है। उसके कारण इनका परस्पर संबंध होता है। 'अण्णमण्णसिणेह पडिबद्धा' का उल्लेख एक नई अवधारणा को प्रस्तुत करता है।[53]

रचना-शैली

प्रस्तुत आगम में 36 हजार प्रश्नों का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि इनकी रचना प्रश्नोत्तर की शैली में की गई थी। नंदी के चूर्णिकार ने बतलाया है कि गौतम आदि के द्वारा पूछे गए प्रश्नों तथा अपृष्ट प्रश्नों का भी भगवान महावीर ने व्याकरण किया था।[54] वर्तमान आकार में आज भी यह प्रश्नोत्तर शैली का आगम है। प्रश्नों की भाषा संक्षिप्त है और उनके उत्तर की भाषा भी संक्षिप्त है। 'से नूणं भंते'—इस भाषा में प्रश्न का और 'हंता गोयमा' इस भाषा में उत्तर का आरंभ होता है—

से नूणं भंते! चलमाणे चलिए।
'हंता गोयमा! चलमाणे चलिए॥[55]

प्रश्न और उत्तर की भाषा सहज-सरल है। कहीं-कहीं विषय की दृष्टि के अनुसार उत्तर बहुत विस्तार से दिए गए हैं।[56] कहीं-कहीं प्रश्न विस्तृत है और उत्तर संक्षिप्त, इसलिए प्रतिप्रश्न भी मिलता है। 'से केणट्ठेणं'—इस भाषा में प्रतिप्रश्न प्रारंभ होता है और विषय का निगमन 'से तेणट्ठेणं'—इस भाषा में होता है।[57]

भगवती की रचना की यह विशेषता भी है कि शतक के प्रारंभ में संग्रहणी गाथा होती है। उसमें उस शतक के सभी उद्देशकों की सूची मिल जाती है। गद्य में, मध्य में भी संग्रहणी गाथाएं प्रचुरता से मिलती हैं।

रचनाकार और रचनाकाल

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का पांचवां अंग है। इसमें भगवान महावीर की वाणी गणधर सुधर्मा के द्वारा संकलित है, इसलिए इसके रचनाकार गणधर सुधर्मा हैं। इसका प्रस्तुत संस्करण देवर्द्धिगणी की वाचना के समय का है। ईसा पूर्व पांच सौ से ईसवी सन् पांच सौ तक के सूत्र इसमें मिलते हैं।

विद्वानों का अभिमत है कि इसके बीस शतक प्राचीन हैं और अगले शतक परिवर्धित हैं। इस संदर्भ में और भी विमर्श अपेक्षित है। पाश्चात्य विद्वान विंटरनित्ज के अनुसार भगवती का पंद्रहवां शतक एक अलग प्रकरण के रूप में था बाद में इसको भगवती के साथ जोड़ दिया गया। उनके अनुसार संपूर्ण पांचवां अंग जिसमें धीरे-धीरे अनेकानेक प्रकरण जोड़ दिए गए।[58] भगवती पर कार्य करने वाले प्रायः सभी विद्वानों ने इसे एक काल की रचना स्वीकार नहीं किया है। कालक्रम से इसके साथ नवीन जुड़ता रहा है। भगवती के कालक्रम से कई स्तर बन सकते हैं, ऐसी विद्वानों की अवधारणा है। इस संदर्भ में विशेष अन्वेषण की आवश्यकता है, जिससे कुछ नवीन तथ्य प्रकाश में आ सकें।

ज्ञाताधर्मकथा

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का छठा अंग है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध का नाम 'नाया' और दूसरे श्रुतस्कंध का नाम 'धम्मकहाओ' है। दोनों श्रुतस्कंधों का एकीकरण करने पर प्रस्तुत आगम का नाम 'नायाधम्मकहाओ' बनता है। 'नाया' (ज्ञात) का अर्थ उदाहरण और 'धम्मकहाओ' का अर्थ धर्म-आख्यायिका है। प्रस्तुत आगम में चरित और कल्पित—दोनों प्रकार के दृष्टांत और कथाएं हैं।[59]

जयधवला में प्रस्तुत आगम का नाम 'नाहधम्मकहा' (नाथधम्मकथा) मिलता है। नाथ का अर्थ है स्वामी। नाथधर्मकथा अर्थात् तीर्थंकर द्वारा प्रतिपादित धर्मकथा। कुछ संस्कृत ग्रंथों में प्रस्तुत आगम का नाम 'ज्ञातृधर्मकथा' उपलब्ध होता है।[60] आचार्य मलयगिरि और अभयदेवसूरि ने उदाहरणप्रधान धर्मकथा को ज्ञाताधर्मकथा कहा है। उनके अनुसार प्रथम अध्ययन में 'ज्ञात' और दूसरे अध्ययन में 'धर्मकथाएं' हैं। दोनों ने ही ज्ञात पद के दीर्घीकरण का उल्लेख किया है।[61] यदि ज्ञात दीर्घ नहीं होता तो 'नाय' होता 'नाया' नहीं होता।

आकार-प्रकार

प्रस्तुत आगम में दो श्रुतस्कंध, उनतीस अध्ययन, उनतीस उद्देशनकाल, उनतीस समुद्देशनकाल तथा पद-प्रमाण से संख्येय हजार पद हैं।[62] वर्तमान में प्राप्त इस ग्रंथ के दो श्रुतस्कंधों में—प्रथम में उन्नीस अध्ययन तथा दूसरे में दस वर्ग हैं, इन दोनों की संख्या मिलाने से उनतीस हो जाते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि इस ग्रंथ के द्वितीय श्रुतस्कंध के दस वर्गों के अलग-अलग अध्ययन दिए गए हैं, जैसे—प्रथम वर्ग के पांच, द्वितीय वर्ग के पांच,

तृतीय वर्ग के चौवन, चतुर्थ वर्ग के चौवन, पंचम वर्ग के बत्तीस, षष्ठ के बत्तीस, सप्तम वर्ग के चार, अष्टम वर्ग के चार, नवम वर्ग के आठ एवं दशम वर्ग के भी आठ अध्ययनों का उल्लेख है। नंदी में अध्ययनों की संख्या उनतीस दी है। इस संख्या का मेल प्रथम श्रुतस्कंध के अध्ययन एवं द्वितीय श्रुतस्कंध के वर्ग मिलाने से ही बैठता है। पाश्चात्य विद्वान विंटरनित्ज ने इसके प्रथम श्रुतस्कंध के इक्कीस अध्ययन बतलाए हैं।[63] किंतु उनकी यह सूचना प्रस्तुत आगम के संदर्भ में समीचीन नहीं है, क्योंकि इस श्रुतस्कंध के उन्नीस अध्ययन ही उपलब्ध हैं, इक्कीस नहीं।

विषय-वस्तु

नंदी सूत्र के अनुसार ज्ञाताधर्मकथा में ज्ञातों (दृष्टांतभूत व्यक्तियों) के नगर, उद्यान, चैत्य, वनषंड, समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलोक-परलोक की ऋद्धि-विशेष, भोग-परित्याग, प्रव्रज्या, दीक्षा-पर्याय का काल, श्रुतग्रहण, तप-उपधान, संलेखना, भक्त-प्रत्याख्यान, प्रायोपगमन अनशन, देवलोकगमन, सुकुल में पुनरागमन, पुनः बोधिलाभ और अंतक्रिया का आख्यान किया गया है।

धर्मकथा के दस वर्ग हैं। प्रत्येक धर्मकथा में पांच-पांच सौ आख्यायिकाएं हैं। प्रत्येक आख्यायिका में पांच-पांच सौ उप-आख्यायिकाएं हैं। प्रत्येक उप-आख्यायिका में पांच-पांच सौ आख्यायिकाएं-उपाख्यायिका हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर इसमें साढ़े तीन करोड़ आख्यायिकाएं हैं।[64]

वर्तमान में प्राप्त प्रस्तुत आगम में दृष्टांतों और कथाओं के माध्यम से अहिंसा, अस्वाद, श्रद्धा, इंद्रिय-विजय आदि आध्यात्मिक तत्त्वों का अत्यंत सरस शैली में निरूपण किया गया है। कथावस्तु के साथ वर्णन की भी विशेषता है। मुख्य उदाहरणों के साथ कुछ अवांतर कथाएं भी उपलब्ध हैं। इस प्रकार नाना कथाओं, अवांतर कथाओं, वर्णनों, प्रसंगों और शब्द प्रयोगों की दृष्टि से प्रस्तुत आगम बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका विश्व के विभिन्न कथा-ग्रंथों के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने पर कुछ नए तथ्य उपलब्ध हो सकते हैं।

उपासकदशा

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का सातवां अंग है। इसमें दस उपासकों का जीवन वर्णित है। इसलिए इसका नाम 'उवासगदसाओ' है। श्रमण परंपरा में श्रमणों की उपासना करने वाले गृहस्थों को श्रमणोपासक या उपासक कहा गया है। भगवान महावीर के अनेक उपासक थे। उनमें से दस मुख्य उपासकों का वर्णन करने वाले दस अध्ययन इसमें संकलित हैं। 'दशा' शब्द दस संख्या एवं अवस्था—दोनों का सूचक है। उपासकदशा में उपासकों की कथाएं दस ही हैं अतः दस संख्यावाचक अर्थ उपयुक्त है। इसी प्रकार उपासकों की अवस्था का वर्णन करने के कारण अवस्थावाची अर्थ भी हो सकता है।

आकार-प्रकार

नंदी में प्रस्तुत आगम को एक श्रुतस्कंध वाला बताया है। इसके दस अध्ययन, दस उद्देशनकाल, दस समुद्देशनकाल तथा पद-प्रमाण से संख्येय हजार पद हैं।[65] वर्तमान में भी यह ग्रंथ एक श्रुतस्कंध वाला है तथा इसके दस अध्ययन हैं। उद्देशक, समुद्देशक का उल्लेख उपलब्ध नहीं है।

विषय-वस्तु

भगवान महावीर ने मुनिधर्म और उपासकधर्म—इस द्विविध धर्म का उपदेश दिया था। मुनि के लिए पांच महाव्रत और उपासक के लिए बारह व्रतों का विधान किया। प्रस्तुत आगम के प्रथम अध्ययन में उन बारह व्रतों का विशद वर्णन प्राप्त है। व्रतों की यह सूची धार्मिक या नैतिक जीवन की प्रशस्त आचार-संहिता है। श्रमणोपासक आनंद भगवान महावीर के पास इन व्रतों की दीक्षा लेता है।

मुनि का आचार-धर्म अनेक आगमों में मिलता है, किंतु गृहस्थ का आचार-धर्म मुख्यतः इसी आगम में प्राप्त है। इसलिए आचारशास्त्र में इसका मुख्य स्थान है। इसकी रचना का मुख्य प्रयोजन गृहस्थ के आचार का वर्णन करना है। प्रसंगवश इसमें नियतिवाद के पक्ष-विपक्ष की चर्चा हुई है। उपासकों की धार्मिक कसौटी की घटनाएं भी मिलती हैं।

जयधवला[66] के अनुसार प्रस्तुत आगम में उपासकों के दर्शन, व्रत आदि ग्यारह प्रकार के धर्म का वर्णन है। आनंद आदि श्रावकों ने उक्त ग्यारह प्रतिमाओं का आचरण किया था। व्रत और प्रतिमा—ये दो पद्धतियां हैं। समवायांग और नंदीसूत्र में व्रत और प्रतिमा—दोनों का उल्लेख मिलता है। जयधवला में केवल प्रतिमाओं का उल्लेख है।

अंतकृतदशा

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का आठवां अंग है। इसमें जन्म-मरण की परंपरा का अंत करने वाले व्यक्तियों का वर्णन है तथा इसके दस अध्ययन हैं इसलिए इसका नाम 'अंतगडदसाओ' है। समवायांग में इसके दस अध्ययन और सात वर्ग बतलाए गए हैं।[67] नंदीसूत्र में इसके अध्ययनों का

कोई उल्लेख नहीं, केवल आठ वर्गों का उल्लेख है।[68] नंदी सूत्र के चूर्णिकार श्री जिनदास महत्तर और वृत्तिकार श्री हरिभद्रसूरि ने लिखा है कि प्रथम वर्ग में दस अध्ययन होने के कारण प्रस्तुत आगम का नाम 'अंतगडदसाओ' है।[69] चूर्णिकार ने दसा का अर्थ अवस्था भी किया है।[70]

तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार प्रस्तुत आगम में प्रत्येक तीर्थंकर के समय होने वाले दस-दस अंतकृत केवलियों का वर्णन है।[71] जयधवला में भी तत्त्वार्थवार्तिक के वर्णन का समर्थन मिलता है।[72]

'अंतगड' शब्द के दो संस्कृत रूप प्राप्त होते हैं—अंतकृत और अंतकृत्। अर्थ की दृष्टि से दोनों में कोई अंतर नहीं है, किंतु 'गड' का 'कृत' रूप छाया की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है।[73]

विषय-वस्तु

वासुदेव कृष्ण और उनके परिवार के संबंध में इस आगम में विशद जानकारी मिलती है। वासुदेव कृष्ण के छोटे भाई गजसुकुमाल की दीक्षा और उनकी साधना का वर्णन बहुत ही रोमांचकारी है।

छठे वर्ग में अर्जुनमालाकार की घटना उल्लिखित है। बाह्य परिस्थिति से किस प्रकार व्यक्ति के आंतरिक भावों में परिवर्तन आ जाता है, यह इस घटनाक्रम से स्पष्ट होता है। अर्जुनमालाकार बाह्य निमित्त से हत्यारा बन जाता है तथा बाह्य निमित्त को प्राप्त कर ही साधु बन जाता है। उपादान के साथ निमित्त का भी महत्त्व है। प्रस्तुत घटनाक्रम में यह सत्य अभिव्यक्त हुआ है।

इस आगम में अतिमुक्तक आदि साधकों के उल्लेख तथा बाह्य तपस्या का विशद वर्णन हुआ है।

अनुत्तरोपपातिक दशा

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का नवां अंग है। इसमें अनुत्तर नामक स्वर्ग-समूह में उत्पन्न होने वाले मुनियों से संबंधित दस अध्ययन हैं, इसलिए इसका नाम 'अनुत्तरोपपातिक दशा' है।

नंदी सूत्र में इसके तीन वर्गों का उल्लेख है।[74] स्थानांग में केवल दस अध्ययनों का उल्लेख है।[75] समवायांग में दस अध्ययन और तीन वर्ग—दोनों का उल्लेख है।[76] राजवार्तिक के अनुसार इसमें प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वाले दस-दस अनुत्तरोपपातिक मुनियों का उल्लेख है।[77]

प्रस्तुत आगम का जो स्वरूप उपलब्ध है वह स्थानांग और समवायांग की वाचना से भिन्न है। वर्तमान में उपलब्ध इस आगम के तीन वर्ग हैं, जैसा नंदी में उल्लिखित है।

विषय-वस्तु

प्रस्तुत आगम में अनेक राजकुमारों तथा अन्य व्यक्तियों के वैभवपूर्ण और तपोमय जीवन का सुंदर वर्णन है। धन्य अनगार के तपोमय जीवन और तप से कृश बने हुए शरीर का जो वर्णन है वह साहित्य और तप—दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है।

प्रश्नव्याकरण

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का दसवां अंग है। समवायांग और नंदी में इसका नाम 'पण्हावागरणाइं' मिलता है।[78] स्थानांग में इसका नाम 'पण्हावागरणदसाओ' है।[79] समवायांग में 'पण्हावागरणादसासु'—यह पाठ भी उपलब्ध है। इससे जाना जाता है कि समवायांग को स्थानांग-निर्दिष्ट नाम भी मान्य है।

विषय-वस्तु

प्रस्तुत आगम की विषय-वस्तु के बारे में विभिन्न मत प्राप्त होते हैं। समवायांग के अनुसार प्रस्तुत आगम में नाना प्रकार के प्रश्नों, विद्याओं और दिव्य संवादों का उल्लेख है।[80] नंदी में इसके पैंतालीस अध्ययनों का उल्लेख है। स्थानांग में उसकी कोई संगति नहीं है।

तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार प्रस्तुत आगम में अनेक आक्षेप और विक्षेप के द्वारा हेतु और नय से आश्रित प्रश्नों का उत्तर दिया गया है, लौकिक और वैदिक अर्थों का निर्णय किया गया है।[81]

उक्त ग्रंथों में प्रस्तुत आगम का जो विषय वर्णित है वह आज उपलब्ध नहीं है। आज जो उपलब्ध है उसमें पांच आश्रवों तथा पांच संवरों का वर्णन है। इस संदर्भ में यह अनुमान भी किया जा सकता है कि प्रस्तुत आगम के प्राचीन स्वरूप के विच्छिन्न हो जाने पर किसी आचार्य द्वारा नए रूप से रचना की गई हो।[82] नंदी में प्रस्तुत आगम की जिस वाचना का विवरण है, उसमें आश्रवों ओर संवरों का वर्णन नहीं है, किंतु नंदीचूर्णि में उनका उल्लेख मिलता है।[83] यह संभव है कि चूर्णिकार ने उपलब्ध आकार के आधार पर उनका उल्लेख किया है।

विपाक सूत्र

प्रस्तुत आगम द्वादशांगी का ग्यारहवां अंग है। इसमें सुकृत और दुष्कृत कर्मों के विपाक का वर्णन किया गया है,

इसलिए इसका नाम 'विवागसुयं' है।[84] स्थानांग में इसका नाम 'कम्मविवागदसा' है।[85]

विषय-वस्तु

प्रस्तुत आगम के दो विभाग हैं—दुःख-विपाक और सुख-विपाक। प्रथम विभाग में दुष्कर्म करने वाले व्यक्तियों के जीवन-प्रसंगों का वर्णन है। दूसरे विभाग में सुकृत करने वाले व्यक्तियों के जीवन-प्रसंग हैं। इस वर्णन को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि अच्छाई और बुराई दोनों साथ-साथ चलती हैं।

इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रथम श्रुतस्कंध के दस अध्ययन हैं तथा द्वितीय श्रुतस्कंध के भी दस अध्ययन हैं।[86]

दृष्टिवाद

यह द्वादशांगी का बारहवां अंग है, किंतु वर्तमान में अनुपलब्ध है। दिट्ठिवाय के संस्कृत रूप दो किए गए हैं—1. दृष्टिवाद 2. दृष्टिपात। प्रस्तुत अंग में विभिन्न दार्शनिकों की दृष्टियों का निरूपण है इसलिए इसकी संज्ञा दृष्टिवाद है। इसका दूसरा अर्थ है कि इसमें सब दृष्टियों का समपात है इसलिए इसका नाम दृष्टिपात है। स्थानांग में दृष्टिवाद के दस नाम बतलाए गए हैं[87]—1. दृष्टिवाद 2. हेतुवाद 3. भूतवाद 4. तत्त्ववाद (तथ्यवाद) 5. सम्यक्वाद 6. धर्मवाद 7. भाषा विचय 8. पूर्वगत 9. अनुयोगगत 10. सर्वप्राणभूत-जीवसत्त्वसुखावह।

दृष्टिवाद के पांच प्रकार अथवा पांच अर्थाधिकार बतलाए गए हैं—1. परिकर्म 2. सूत्र 3.पूर्वगत 4. अनुयोग 5. चूलिका।[88]

परिकर्म का अर्थ योग्यता पैदा करना है। जैसे गणित के सोलह परिकर्म होते हैं। उनके सूत्र और अर्थ को ग्रहण करने वाला शेष गणित के अध्ययन के योग्य बन जाता है। इसी प्रकार परिकर्म के सूत्र और अर्थ को ग्रहण करने वाले में सूत्र, पूर्वगत आदि के अध्ययन करने की योग्यता आ जाती है।[89]

परिकर्म के मूलभेद और उत्तरभेद विच्छिन्न हैं। उनकी सूत्र और अर्थ परंपरा—दोनों उपलब्ध नहीं हैं। चूर्णिकार ने इतना संकेत किया है कि वे अपने-अपने संप्रदाय के अनुसार वक्तव्य हैं।[90]

सूत्र के बाईस प्रकार बतलाए गए हैं। चूर्णिकार के अनुसार इन सूत्रों से सर्वद्रव्य, सर्वपर्याय, सर्वनय और सर्वभंगों की विकल्पना जानी जाती है। ये पूर्वगत श्रुत और उसके अर्थ के सूचक हैं। इसलिए इन्हें सूत्र कहा गया है।[91]

पूर्वगत-पूर्वशब्द के अनेक तात्पर्यार्थ बतलाए गए हैं—1. तीर्थंकर तीर्थ-प्रवर्तन के काल में सर्वप्रथम पूर्वगत के अर्थ का निरूपण करते हैं। उस अर्थ के आधार पर निर्मित ग्रंथ पूर्व कहलाते हैं।[92] पूर्वों की संख्या चौदह हैं—1. उत्पाद 2. अग्रेयणीय 3. वीर्य 4. अस्तिनास्तिप्रवाद 5. ज्ञानप्रवाद 6. सत्यप्रवाद 7. आत्मप्रवाद 8. कर्मप्रवाद 9. प्रत्याख्यान 10. विद्यानुप्रवाद 11. अवंध्य 12. प्राणायु 13. क्रियाविशाल एवं 14. लोकबिंदुसार।

अनुयोग के दो विभाग प्राप्त हैं—

1. मूलप्रथमानुयोग—इसमें अर्हत् का जीवन वर्णित है।

2. गंडिकानुयोग (कंडिकानुयोग)—इसमें कुलकर आदि अनेक व्यक्तियों के जीवन का वर्णन है।

गंडिकानुयोग केवल जीवन का वर्णन करने वाला ग्रंथ नहीं है, अपितु वह इतिहास-ग्रंथ भी है। चूर्णिकार तथा मलयगिरि ने 'गंडिका' का अर्थ खंड किया है। ईख के एक पर्व से दूसरे पर्व का मध्यवर्ती भाग गंडिका कहलाता है वैसे ही जिस ग्रंथ में एक व्यक्ति का अधिकार होता है, उस ग्रंथ की संज्ञा गंडिका या कंडिका है।[93]

चूलिका को आज की भाषा में परिशिष्ट कहा जा सकता है। चूर्णिकार ने बताया है कि परिकर्म, सूत्र, पूर्व और अनुयोग में जो नहीं बतलाया है वह चूलिका में बतलाया गया है।[94] हरिभद्रसूरि के अनुसार चूलिका में उक्त और अनुक्त—दोनों का ही उल्लेख है।[95]

द्वादशांगी का यह अंतिम अंग वर्तमान में अनुपलब्ध है। ❖

क्रमशः अगले अंक में जारी

संदर्भ ग्रंथ

1. (क) समवाओ, पइण्णग समवाओ, सूत्र 88
   (ख) नंदी, सूत्र 80
   (ग) अणुओगद्दाराइं, निर्युक्ति पंचक (संपा. आचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूं, 1996) सूत्र 50
2. (सूत्रकृतांगनिर्युक्ति) (संपा. समणी कुसुमप्रज्ञा, लाडनूं, 1999) गाथा 2, सूतगडं सुत्तकडं, सूयगडं चेव गोण्णाणि।
3. (क) समवाओ, पइण्णग समवाओ, सूत्र 90
   (ख) नंदी, सूत्र 82
4. कसायपाहुड, (संपा. पं. फूलचंद्र, मथुरा, 1944) भाग 1, पृ. 134
5. सूयगडंगसुत्तं (सूत्रकृतांगचूर्णि) (संपा. मुनि पुण्यविजय, अहमदाबाद, 1975), पृ. 4 : इह चरणाणुयोगेण अधिकारो।

6. आचारांगसूत्रं सूत्रकृतांगसूत्रंच (सूत्रकृतांगवृत्ति) (संपा. मुनि जंबूविजय, दिल्ली, 1978), पत्र 1 : तत्राचारांगं चरणकरणप्राधान्येन व्याख्यातम्, अधुना अवसरायातं द्रव्यप्राधान्येन सूत्रकृताख्यं द्वितीयमंगं व्याख्यातुमारभते।
7. सूगडंगसुत्तं (सूत्रकृतांगचूर्णि), पृ. 3 : कालियसुयं चरणकरणाणुयोगो...दिट्ठिवातो दव्वाणुजोगो त्ति।
8. (क) समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सूत्र 90
   (ख) नंदी, सूत्र 82
9. (क) षट्खंडागम, धवला, भाग 1, पृ. 99.
   (ख) कषायपाहुड, जयधवला, भाग 1, पृ. 122
10. समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सूत्र 90
11. नंदी, सूत्र 82
12. सूयगडो, (संपा. युवाचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूं, 1984) 1/1/7-71, 1/12वां अध्ययन
13. वही, 1/1/1
14. वही, 1/6/3, 5, 25 आदि
15. वही, 1/1/50
16. निर्युक्तिपंचक (सूत्रकृतांगनिर्युक्ति), गाथा 139, गाहीकता य अत्था अधवा सामुद्दएण छंदेण।
17. Winternitz, Maurice, History of Indian Literature, P. 421, This Anga, too, consists of two books, the second of which is probably only an appendix, added later; to the old Anga which we have in the first book.
18. स्थानांगसूत्रं समवायांगसूत्रंच (स्थानांगवृत्ति), पत्र 3 : तत्र च दशाध्ययनानि।
19. ठाणं (संपा. मुनि नथमल, लाडनूं, 1976), 1/17, एगे जीवे पाडिक्कएणं।
20. वही, 2/409, दुविहा सव्वजीवा पण्णत्ता, तं जहा-सिद्धा चेव, असिद्धा चेव।
21. दोसी, बेचरदास, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (वाराणसी, 1989), भाग 1, पृ. 213
22. नंदी, सूत्र 83
23. ठाणं 10वां अध्ययन, पृ. 950
24. ठाणं, 4/350
25. वही, 7/140
26. वही, 9/29
27. नंदी, सूत्र 83, ससमए ठाविज्जई, परसमए ठाविज्जई, ससमयपरसमए ठाविज्जई।
28. अनुयोगद्वारचूर्णि, पृ. 86
29. समवाओ, 54/3, समणे भगवं महावीरे एगदिवसेणं एगनिसेज्जाए चउप्पण्णाइं वागरणाइं वागरित्था।
30. समवाओ, 55/4, समणे भगवं महावीरे अंतिमराइयंसि पणपण्णं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं, पणपण्णं अज्झयणाणि पावफलविवागाणि वागरित्ता सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिणिव्वुडे सव्वदुक्खप्पहीणे।
31. व्यवहारसूत्र, उद्देशक 3/7...ठाण-समवायधरे कप्पइ आयरियत्ताए उवज्झायत्ताए पवत्तिताए थेरताए गणित्ताए गणावच्छेइयत्ताए उद्दिसित्तए।
32. (क) समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सूत्र 88, 93
   (ख) नंदी, सूत्र 80, 85
33. भगवई (खंड-1) (भगवतीवृत्ति) (संपा. आचार्य महाप्रज्ञ, लाडनूं, 1994), पृ. 342, इयं च भगवतीत्यपि पूज्यत्वेनाभिधीयते।
34. समवाओ, 84/11 : वियाहपण्णत्तीए णं भगवतीए चउरासीइं पयसहस्सा पदग्गेणं पण्णत्ता।
35. कसायपाहुड, प्रथम अधिकार, पृ. 132 : परियम्मं चंद-सूर-जंबूदीव-दीवसायर-वियाहपण्णत्तिभेएण पंचविहं।
36. भगवई (खंड 1), भूमिका पृ. 1
37. कसायपाहुड, प्रथम अधिकार, पृ. 133
38. (क) तत्त्वार्थवार्तिक 1/20
   (ख) नंदी, सूत्र 85
   (ग) समवाओ पइण्णगसमवाओ, सूत्र 93
39. (क) वही, सूत्र 93
   (ख) नंदी, सूत्र 85
40. (क) समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सूत्र 88-93
   (ख) नंदी, सूत्र 85
41. मालवणिया, दलसुख, जैनदर्शन का आदिकाल (अहमदाबाद, 1980), पृ. 13
42. भगवई (खंड 1), भूमिका, पृ. 33
43. समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सूत्र 93
44. नंदी, सूत्र 85
45. भगवई (खंड 1), भूमिका, पृ. 16
46. Schubring, Walther, The doctrine of the Jainas, P. 89 ; No other texts urnished a picture of Mahavira's character and activities as distinct as that of the Viy. in spite of the style being mostly conventional.
47. Winternitz, Maurice, A History of Indian literature, P. 425 : This work gives a more vivid picture than any other work of the life and work of Mahavira, his relationship to his disciples and contemporaries, and whole personality.
48. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), (संपा. मुनि नथमल लाडनूं, वि. सं. 2031), 1/11
49. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 13/55
50. वही, 8/1
51. वही, 6/15-16

52. अंगसुत्ताणि 2 (भगवई), 8/484
53. वही, 1/312
54. नंदीचूर्णि, सूत्र 89, पृ. 65 : गोतमादिएहिं पुट्ठे अपुट्ठे वा जो पण्हो तव्वागरणं।
55. अंगसुत्ताणि-2 (भगवई), 1/11, 12
56. वही, 8/26-39
57. वही, 1/312-313
58. Winternitz, Maurice, History of Indian Literature, P. 428, It would seem that this Book XV of the Bhagavati was originally an independent text, and indeed the whole of the fifth Anga has the appearance of a mosaic, into which various texts were inserted little by little.
59. समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सूत्र 94
60. तत्त्वार्थवार्तिक, 1/20, ज्ञातृधर्मकथा
61. नंदीवृत्ति (ले. आचार्य हरिभद्र, बनारस, 1966), पत्र 230, 231 : ज्ञातानि-उदाहरणानि तत्प्रधाना धर्मकथा ज्ञाताधर्मकथाः, अथवा ज्ञातानि—ज्ञाताध्ययनानि प्रथमश्रुतस्कंधे, धर्मकथा द्वितीय-श्रुतस्कंधे यासु ग्रंथपद्धतिषु (ता) ज्ञाताधर्मकथाः पृषोदरादित्वात्पूर्वपदस्य दीर्घांतता।
62. नंदी, सूत्र 86
63. Winternitz, Maurice, History of Indian literature, P. 428-429 : The Sixth Anga.....Book I of this Anga consists of 21 chapters.
64. नंदी, सूत्र 86
65. नंदी, सूत्र 87
66. कसायपाहुड, भाग 1, पृ. 129, 130
67. समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सूत्र 96 : दस अज्झयणा सत्तवग्गा।
68. नंदी, सूत्र 88...अट्ठवग्गा।
69. (क) नंदी, सूत्र, चूर्णि सहित, पृ. 68 : पढमवग्गे दस अज्झयणा सत्त वग्गा तस्सक्खत्तो अंतकडदस त्ति।
(ख) नंदी, सूत्र, वृत्ति सहित, पृ. 83 : प्रथमवर्गे दशाध्ययनानि इति तत्संख्यया अंतकृद्दशा इति।
70. नंदी सूत्र, चूर्णि सहित, पृ. 68 : दस त्ति-अवत्था।
71. तत्त्वार्थवार्तिक, 1/20
72. कसायपाहुड, भाग 1, पृ. 130
73. अंगसुत्ताणि, भाग 3 (संपा. मुनि नथमल, लाडनूं, वि. सं. 2031), भूमिका पृ. 25
74. नंदी सूत्र, 89...तिण्णिवग्गा।
75. ठाणं, 10/114
76. समवाओ, पइण्णगसमवाओ, 97 : दस अज्झयणा तिण्णि वग्गा...
77. तत्त्वार्थवार्तिक, 1/20
78. (क) समवाओ, पइण्णगसमवाओ, 98
(ख) नंदी सूत्र, 90
79. ठाणं, 10/110
80. समवाओ, पइण्णगसमवाओ, 98
81. तत्त्वार्थवार्तिक, 1/20
82. अंगसुत्ताणि, भाग 3, भूमिका पृ. 28
83. नंदी सूत्र, चूर्णि सहित पृ. 71
84. समवाओ, पइण्णगसमवाओ, 99
85. ठाणं, 10/110
86. अंगसुत्ताणि, भाग 3 (विपाकसूत्र), 2/10/2 : का परिशेष—विवागसुयस्स दो सुयक्खंधा दुहविवागो सुहविवागो य। तत्थ दुहविवागे दस अज्झयणां...एवं सुहविवागे वि।
87. ठाणं, 10/92
88. नंदीचूर्णि, पृ. 71
89. वही, पृ. 72 : तत्थ परिकम्मे त्ति जोग्गकरणं जहा गणितस्स सोलस परिकम्मा, तग्गहित सुत्तत्थो सेसगणितस्स जोग्गो भवति।
90. नंदीचूर्णि, पृ. 72, जहागतसंप्रदातं वा वच्चं।
91. वही, पृ. 74
92. वही, पृ. 75
93. (क) नंदीचूर्णि, पृ. 77
(ख) नंजी मलयगिरीया वृत्ति, पृ. 242
94. नंदीचूर्णि, पृ. 79, दिट्ठिवाते जं परिकम्म-सुत्त-पुव्व-अणुयोगे य ण भणितं तं चूलासु भणितं।
95. नंदी हारिभद्रीया वृत्ति, पृ. 93 : इह दृष्टिवादे परिकर्मसूत्रपूर्वानुयोगोक्तानुक्तार्थसंग्रहणपरा ग्रंथपद्धतयश्चूडा इति। ❖❖

जो व्यक्ति जीवन में कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, यदि वे दृढ़मति और एकाग्रचित्त हों—तो उन्होंने जो कुछ और जैसे भी चाहा था, उसे वे प्राप्त कर सकेंगे।

—तिरुक्कुरल

लोकतंत्र' और 'समाजवाद' शब्दों का प्रयोग जिन अर्थों में किया जाता है वे केवल राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं में ही निहित नहीं हैं, वरन् उनका संबंध नैतिक मूल्यों और आदर्शों से है। सामान्य भाषा में हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति 'लोकतांत्रिक' है। ऐसा कहने में हमारा आशय यह होता है कि वह व्यक्ति लोकतांत्रिक नैतिक मूल्यों के अनुसार कार्य करता है। इसी अर्थ में जब हम 'लोकतांत्रिक जीवन पद्धति' का उल्लेख करते हैं तो उसका अभिप्राय यह है कि जीवन पद्धति में लोकतांत्रिक मूल्यों का पालन होता है।

समाजवाद के संबंध में आधुनिक प्रवृत्ति यही है कि उसको नैतिक मूल्यों के आधार पर परिभाषित किया जाए।

❑❑

नैतिक मूल्य और सामाजिक संस्थाएं

❑ वी. एम. तारकुंडे ❑

आदर्श समाज बहुआयामी लोकतंत्र के आधार पर विकसित होना चाहिए जिसमें स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व जैसे नैतिक मूल्यों का पालन दैनिक जीवन में किया जाए। ये नैतिक मूल्य (स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व) फ्रांसीसी राज्यक्रांति के समय से लोकप्रिय हैं। उनका विकास नवजागरण, सुधार आंदोलन और नए ज्ञान के आंदोलन की पृष्ठभूमि में यूरोप में हुआ था। इन मूल्यों का आधार उस समय विज्ञान नहीं था। इसी कारण कालांतर में वे मूल्य कमजोर पड़ गए और उनका प्रभाव समाप्त हो गया। व्यक्ति की स्वतंत्रता की भावना व्यक्ति की निस्सहायता के प्रभाव में शिथिल हो गई। विवेकवाद के स्थान पर विभिन्न अविवेकी सिद्धांतों ने स्थान ले लिया। धार्मिक विश्वास के अतिरिक्त नैतिकता का कोई अन्य आधार नहीं समझा गया। इसके परिणामस्वरूप संसार के अनेक देशों में अधिनायकवादी शासन स्थापित हो गए और जहां लोकतंत्रात्मक व्यवस्थाएं भी हैं, वे कमजोर हैं और अवास्तविक हैं।

ऐसी परिस्थिति में संसार के किसी भी हिस्से में बहुआयामी लोकतंत्रात्मक व्यवस्था की रचना तब तक असंभव है, जब तक स्वतंत्रता और नैतिकता के मूल्यों की विज्ञान के आधार पर पुष्टि न की जाए। विज्ञान की यह पुष्टि सत्य है और अंत में सत्य की ही विजय होगी।

आधुनिक विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मानव में स्वतंत्रता की आकांक्षा है और उसका विवेक और उसकी नैतिक भावना उसे प्राणीगत विकास क्रम से विरासत में मिली है। यह उसके लिए प्राकृतिक और स्वाभाविक रूप से सही है कि वह स्वतंत्रता प्राप्ति का प्रयास करे। इस संघर्ष में उसकी विजय के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी तर्कशक्ति, विवेक और स्वतः उत्पन्न नैतिकता का उपयोग करे। तर्क के द्वारा वह स्वतंत्र और नैतिक—दोनों ही हो सकता है। इसके लिए संसार-भर में वैज्ञानिक मानववाद के प्रसार के लिए आंदोलन करने की आवश्यकता है।

सामाजिक आदर्श को परिभाषित करने में नैतिक मूल्यों पर जोर दिया जाना चाहिए न कि सामाजिक संस्थाओं पर। मूल्यों पर अधिक जोर देने की बात को ठीक से समझने के लिए यह जरूरी है कि सामाजिक संस्थाओं से उनके संबंधों को समझ लिया जाए। नैतिक मूल्यों में मानव के वे आदर्श निहित हैं और संगठन तथा संस्थाओं द्वारा उनको कार्यान्वित करने की अपेक्षा की जाती है। राजनीतिक लोकतंत्र के उदाहरण में यह कहा जाता है कि इनकी संस्थाओं से राजनीतिक स्वतंत्रता और समानता की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार समाजवाद में संस्थाओं के भिन्न स्वरूपों से आर्थिक स्वतंत्रता और समानता को उपलब्ध करने का प्रयास किया जाता है। नैतिक मूल्य

प्रेरणा का मुख्य स्रोत हैं, जिनको संस्थाओं के द्वारा मूर्तरूप प्रदान किया जाता है।

सामाजिक आंदोलन के किसी भी आदर्श को नैतिक मूल्यों के आधार पर परिभाषित करने के दो कारण हैं जो संस्थाओं के संबंध में लागू नहीं किए जाते हैं।

पहली बात तो यह है कि संस्था की उपयोगिता उसको चलाने वाले लोगों और जिन लोगों में उसको चलाया जाता है, उन सब लोगों पर आश्रित है। यदि संस्था को चलाने वाले लोग संस्था के नैतिक मूल्यों का आदर नहीं करते हैं तो ऐसी संस्था निष्प्रयोजन हो जाएगी। यदि उसके मूल्यों को संबंधित लोग सीमित रूप से मानते हैं तो संस्था की उपयोगिता उस सीमा तक सीमित रह जाएगी। सत्य यह है कि संस्था स्वयं नैतिक मूल्यों की रचना नहीं करती है, जिनको वह लक्ष्य की भांति प्राप्त करने का प्रयास करे। यदि संस्था जिन लोगों में काम करती है, वे नैतिक मूल्यों का पालन करते हैं, तो संस्था के द्वारा उन नैतिक मूल्यों को सुदृढ़ करने और उनका विकास करने में सहायता मिल सकती है। मूल्यों के संबंध में सृजनात्मक भूमिका व्यक्तियों की होती है जो उन्हें प्राप्त करने के लिए उपयुक्त संस्था स्थापित करते हैं, इस प्रकार की भूमिका संस्थाओं की नहीं होती है।

इसी बात को अनेक प्रकार से समझाया जा सकता है जिनके द्वारा भिन्न-भिन्न देशों में संसदीय लोकतंत्र अलग-अलग स्वरूपों में प्रकट होता है। कुछ देशों में लोकतंत्र ऐसा परदा है जो अधिनायकवादी तानाशाही का आवरण है। दूसरे देशों में जनता को उस सीमा में लोकतांत्रिक अधिकार मिलते हैं जिस सीमा तक वह लोकतांत्रिक मूल्यों को चाहती है। इन बातों के अलावा ब्रिटेन का लोकतंत्र भारतीय लोकतंत्र की अपेक्षा अधिक वास्तविक और सुदृढ़ है। इसका साक्ष्य इस बात में निहित है कि भारत के प्रधानमंत्री के हाथों में मनमानी करने के अधिकार ब्रिटेन के प्रधानमंत्री के अधिकारों से कहीं अधिक हैं। इसका कारण यही है कि ब्रिटेन में लोकतांत्रिक मूल्यों की जड़ें अधिक गहरी हैं।

सामाजिक आदर्शों की कल्पना नैतिक मूल्यों के आधार पर करने और संस्थाओं के आधार पर न करने का यह पहला कारण है। यद्यपि संस्थाओं से यह अपेक्षा की जाती है कि वह नैतिक मूल्यों के आदर्शों को प्राप्त करने में सहायक हों, लेकिन यदि उनमें जनता द्वारा मान्य नैतिक मूल्यों का अभाव हो तो संस्थाओं की कोई उपयोगिता नहीं रहती है।

नैतिक मूल्यों को अपनाए जाने पर जोर देने का दूसरा कारण यह है कि जिन आदर्शों के लिए संस्था स्थापित की जाए वह लक्ष्य प्राप्त करने के उपयुक्त ही न हो। कोई संस्था अपने उद्देश्य को पूरा कर सकती है अथवा नहीं, यह तो अनुभव से ही निश्चित किया जा सकेगा। जब तक अनुभव से उसकी उपयोगिता सिद्ध न हो जाए तब तक तो यही माना जाएगा कि वह एक प्रयोगात्मक प्रयास है।

उदाहरण के लिए लोकतांत्रिक संसदीय व्यवस्था से यह अपेक्षा थी कि वह 'जनता का, जनता द्वारा और जनता के लिए' शासन व्यवस्था की स्थापना करेगी, लेकिन संसदीय लोकतंत्र ने यही सिद्ध किया है कि वह शासन व्यवस्था जनता के लिए है, लेकिन वह न तो जनता का शासन है और न जनता द्वारा शासित। इन आदर्शों के विपरीत संसदीय लोकतंत्र सफल राजनीतिज्ञों का जनता पर शासन स्थापित करता है। इसी कारण यह आवश्यक हो गया है कि लोकतंत्र की ऐसी व्यवस्था विकसित करने का प्रयास किया जाए जिसमें व्यवहार में जनता अपनी मालिक बन सके।

इसी भांति वैज्ञानिक समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण की बात कही जाती है, लेकिन व्यवहार में वह उन उद्देश्यों को पूरा करने में अनुपयुक्त सिद्ध हो सकती है, जिनके लिए उनकी स्थापना की गई थी। सामान्य रूप से समाजवाद का मान्य लक्ष्य यह है कि आर्थिक शोषण को समाप्त कर आर्थिक जीवन में स्वतंत्रता और समानता के नैतिक मूल्यों का पालन किया जाए। व्यवहार में यह देखा गया है कि उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण के बाद आर्थिक और राजनीतिक सत्ता पर अधिनायकवादी राज्य का अधिकार हो गया है। इससे स्वतंत्रता और समानता के आदर्शों को भी क्षति पहुंची है। अनुभव से यह मालूम होता है कि यदि केवल बड़े उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाए और छोटे उद्योगों को निजी हाथों में छोड़ दिया जाए तो समाजवाद के आदर्शों को भलीभांति प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसके विकल्प के रूप में कहा जा सकता है कि समाजवाद के लक्ष्य को आगे बढ़ाने के लिए उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण करने अथवा उन्हें निजी स्वामित्व में छोड़ने के बजाए विभिन्न उपक्रमों के कर्मचारियों और श्रमिकों के सहयोगी अथवा सहकारी स्वामित्व में उन्हें रखा जाए। इस प्रकार का चयन व्यावहारिक अनुभव के आधार पर किया जाना चाहिए, केवल सैद्धांतिक अनुमान से नहीं।

समाजवाद की तुलना उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण से करने में दोहरी गड़बड़ी है। पहली गड़बड़ी यह है कि उसमें स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के नैतिक मूल्यों को जनता नहीं अपना पाती। इससे उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण से आर्थिक स्वतंत्रता और आर्थिक समानता के आदर्श को व्यावहारिक रूप नहीं दिया जा सकता। समाजवाद और उत्पादन के साधनों के राष्ट्रीयकरण को समान मानने की दूसरी गड़बड़ी का कारण यह है कि राष्ट्रीयकरण के द्वारा जो औजार विकसित किए जाते हैं वे आर्थिक स्वतंत्रता और समानता के आदर्श को मूर्तरूप देने में अनुपयुक्त होते हैं, चाहे उस प्रकार के आदर्शों को जनता मान भी लेती हो।

यह सौभाग्य की बात है कि 'लोकतंत्र' और 'समाजवाद' शब्दों का प्रयोग जिन अर्थों में किया जाता है वे केवल राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं में ही निहित नहीं हैं, वरन् उनका संबंध नैतिक मूल्यों और आदर्शों से है। सामान्य भाषा में हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति 'लोकतांत्रिक' है। ऐसा कहने में हमारा आशय यह होता है कि वह व्यक्ति लोकतांत्रिक नैतिक मूल्यों के अनुसार कार्य करता है। इसी अर्थ में जब हम 'लोकतांत्रिक जीवन पद्धति' का उल्लेख करते हैं तो उसका अभिप्राय यह है कि जीवन पद्धति में लोकतांत्रिक मूल्यों का पालन होता है।

समाजवाद के संबंध में आधुनिक प्रवृत्ति यही है कि उसको नैतिक मूल्यों के आधार पर परिभाषित किया जाए। यूरोप की अनेक समाजवादी पार्टियां इस निष्कर्ष पर पहुंची हैं कि उनका लक्ष्य उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण नहीं है। वे इस बात को ही पसंद करेंगे कि कुछ उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जाए और अन्य पर सामाजिक नियंत्रण रखा जाए। ब्रिटेन की सोशलिस्ट यूनियन ने 'बीसवीं शताब्दी का समाजवाद' शीर्षक से एक सिद्धांत-पुस्तक प्रकाशित की है जिसमें उसके लेखकों ने समाजवाद की परिभाषा में जीवन के मूल्यों की गुणवत्ता, स्वतंत्रता और आर्थिक संबंधों में भ्रातृत्व के मूल्यों को आवश्यक माना है। सी. आर. ए. क्रासलैंड ने अपनी पुस्तक 'दि फ्यूचर आफ सोशलिज्म' में समाजवाद के तत्त्वों की विवेचना करते हुए उसके नैतिक मूल्यों के आधार पर जोर दिया है। यह देखा जा सकता है कि समानता, स्वतंत्रता और भ्रातृत्व के नैतिक और मानव-मूल्यों को आधारभूत मानव-मूल्य माना जाता है। राजनीतिक लोकतंत्र के आधार भी स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के मानव-मूल्य ही इन लेखकों ने स्वीकार किए हैं। ❖

दमन पद का प्रयोग मनोविज्ञान और उसके बाहर बड़े व्यापक रूप में होता है। इसका सर्वप्रथम प्रयोग फ्रायड (Freud) ने किया। इसके स्वरूप की व्याख्या करने के लिए यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वे विचार, आवेग (impulses) और इच्छाएं, जो सामाजिक या नैतिक मर्यादाओं के प्रतिकूल होती हैं, व्यक्ति के लिए दुखद और कष्टकर होती हैं। इन तिरस्कृत प्रेरणाओं की तुष्टि या उसका विचार भी मन में चिंता और अपराध के दुखद भाव पैदा करता है। परिणाम यह होता है कि समायोजन प्राप्त करने के हित व्यक्ति इन विचारों, आवेगों और इच्छाओं को मन से तिरस्कार करके निकाल देता है और उनके अस्तित्व को स्मरण करने से भी परहेज करता है। ऐसा स्थानापन्न समायोजन (Substitute adjustment) दमन (repression) कहलाता है।

किसी प्रतिक्रिया के दमन से उसकी प्रेरणा का हमेशा के लिए बहिष्कार नहीं हो जाता। दमन तो उसे स्वीकार किए जाने और उसकी तुष्टि को रोक देता है। तनाव के रूप में तो वह प्रेरणा बनी ही रहती है। स्थानापन्न समायोजन से उसकी तीव्रता में कमी हो सकती है, पर वह एक अनिश्चित चिंता के आधार के रूप में तो हमारे मन और आचरण को प्रभावित करती रहती है।

—हंसराज भाटिया

अनुभूति

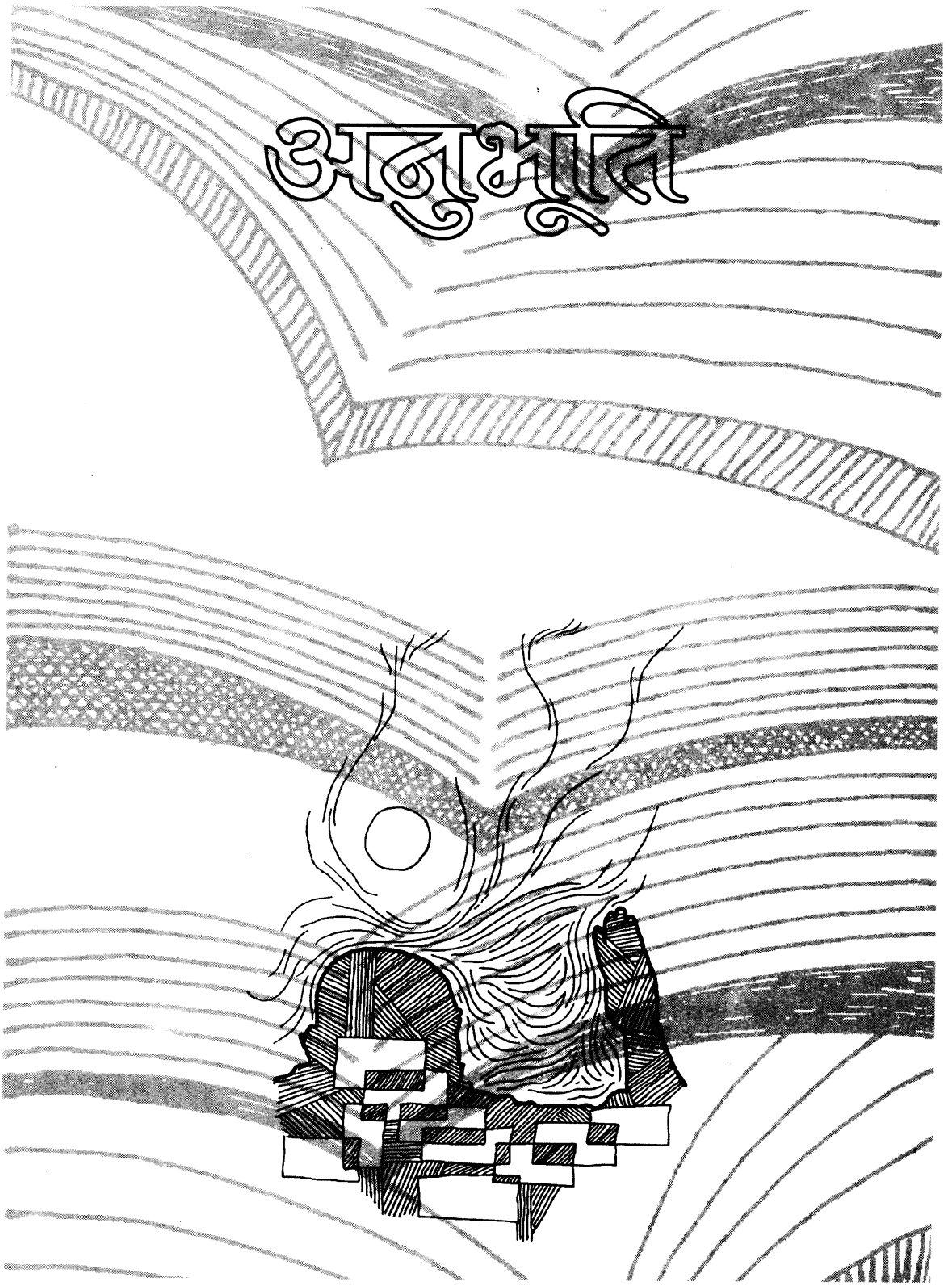

मैजी काल के दौरान क्योतो के ताफुकु मठ में एक प्रसिद्ध श्रमण रहता था—जिसका नाम था कैचु। एक दिन क्योतो के गवर्नर की इच्छा हुई की वह उससे मुलाकात करे।

मठ के परिचारक ने श्रमण के सामने कार्ड प्रस्तुत किया, जिस पर लिखा था : कितगाकी, गवर्नर क्योतो।

'मुझे इस व्यक्ति से कोई वास्ता नहीं है।' कैचु ने परिचारक को कार्ड लौटाते हुए कहा, 'कह दो उसे, फौरन यहां से चला जाए।'

परिचारक ने विनम्रता से कार्ड लौटाया तो वह तुरंत श्रमण की मंशा भांप गया। 'वाकई मुझसे भारी गलती हो गई।' और उसने अदेर अपनी गलती सुधार ली। 'गवर्नर क्योतो' को पैंसिल से काट कर उसने परिचारक को कार्ड वापस सौंपते हुए कहा—'अपने गुरु से एक बार और पूछ लीजिए।'

'ओह! यह कितगाकी है क्या?' श्रमण ने कार्ड पर नजर डालते कहा, 'मैं जरूर मिलना चाहूंगा उससे।'

—एक ज़ेन बोधकथा

हिंसा को छोड़ने की शुरुआत अनावश्यक हिंसा से बचने के प्रयत्न से की जाए। जो-जो आवश्यक नहीं है उसे छोड़ते चलें। इस 'नेति-नेति' के पश्चात् जो बचेगा, वह जीवन का यथार्थ होगा, अर्थ-हिंसा होगी। जो समस्या है—वह अर्थ-हिंसा की नहीं है। उलझन अनर्थ-हिंसा से बढ़ रही है। प्रश्न है, क्या आज का मनुष्य अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा का विवेक कर रहा है? क्या आज के समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री अर्थ-हिंसा की कोई तालिका बनाने को तत्पर नजर आ रहे हैं? क्या किसी धर्मगुरु ने ऐसी कोई तालिका बनाई है?

❑❑

अहिंसा : विसंगतियों का समीचीन उपचार

❑ आचार्यश्री महाप्रज्ञ ❑

लगता है कि शरीर और हिंसा—इन दोनों में कोई भेद-रेखा खींची जा सकती है? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। शरीर के लिए क्या नहीं चाहिए? भोजन, जल और मकान से लेकर सेंट-शैंपू तक को शरीर के लिए जरूरी मान रखा है। आवश्यकताओं की सूची बहुत लंबी है। हिंसा जीवन की नियति हो गई है।

वैज्ञानिक युग के विकास और व्यावसायिक बुद्धि ने आवश्यकताओं को अकल्पित विस्तार दे दिया है। आवश्यकता बढ़े और हिंसा न बढ़े—यह कैसे संभव है?

फिर अहिंसा की आकांक्षा क्यों? चर्चा क्यों? क्या उसकी कोई अपेक्षा है? मनुष्य का जो आकर्षण है, वह हिंसा से पूरा हो सकता है। अहिंसा उसे क्या देगी? पांवों के लिए मुलायम-मुलायम जूते हिंसा ही दे सकती है, अहिंसा नहीं दे सकती। ढेर सारी प्रसाधन सामग्री हिंसा दे सकती है, अहिंसा नहीं दे सकती।

करुणा मनुष्य को कहां ले जाती है? क्रूरता मनुष्य को कहां तक ले जाती है? इसका साक्ष्य है, प्राणी-जगत को क्रूर यातना देकर बनाई जाने वाली प्रसाधन सामग्री, सौंदर्य और सज्जा की सामग्री। कस्तूरी मृग, हाथी, गैंडा आदि कितने पशु और पक्षी मारे जाते हैं। शोध-खोज के लिए मारे जाने वाले मेंढकों और बंदरों की गणना करना भी कठिन है।

विकसित होने का अर्थ

मनुष्य सब प्राणियों में श्रेष्ठ है—इस अवधारणा ने हिंसा को उच्छृंखल बना दिया है—'न मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्'—इसका आशय यही हो सकता है कि उसे जैसा शरीर, मानसिक-बौद्धिक विकास मिला है वैसा किसी अन्य प्राणी में नहीं है। इसका फलितार्थ यह नहीं हो सकता कि वह श्रेष्ठ है, अतः जो-कुछ किया जाए—वह क्षम्य है, उचित है। आज के वैज्ञानिक जगत का अभ्युपगम यह बना हुआ है कि मनुष्य को बचाने के लिए सब-कुछ किया जा सकता है। सब-कुछ करने में औचित्य का कोई अतिक्रमण नहीं है।

क्या इस जगत में केवल मनुष्य का ही अस्तित्व है? क्या अकेला मनुष्य जी सकता है? विकसित होने का अर्थ अविकसित का शोषण और उत्पीड़न नहीं है। उसका अर्थ है—इच्छा और अपेक्षाओं का संयमन।

हिंसा के दो स्तर

भगवान महावीर ने कहा—अविकसित प्राणी विवेक नहीं कर सकता। मनुष्य विकसित है, इसलिए उसमें विवेक करने की क्षमता है। वह हिंसा को जीवन की नियति मानता हुआ भी उसे बचा सकता है। महावीर ने हिंसा की समस्या को दो स्तरों पर देखा। हिंसा का एक स्तर है—अर्थ-हिंसा और दूसरा स्तर है—अनर्थ-हिंसा—'अट्ठा दंडे अणट्ठा दंडे।'

हिंसा अनुपादेय है, उसे छोड़ो। उसे छोड़कर जी नहीं सकता, इस चिंतन से मन आंदोलित हो उठा। जिज्ञासा की—भंते! हिंसा को छोड़कर मैं जी नहीं सकता?

आचार्य बोले—'तुम्हारे मन में जीने की आकांक्षा है। क्या हिंसा की भी आकांक्षा है?'

'नहीं, बिल्कुल नहीं।'

'तो इतना-सा करो—जीने के लिए जो जरूरी नहीं, वैसी हिंसा को छोड़ दो।'

आंख कब खुलेगी

हिंसा को छोड़ने की शुरुआत अनावश्यक हिंसा से बचने के प्रयत्न से की जाए। जो-जो आवश्यक नहीं है उसे छोड़ते चलें। इस 'नेति-नेति' के पश्चात् जो बचेगा, वह जीवन का यथार्थ होगा, अर्थ-हिंसा होगी। जो समस्या है वह अर्थ-हिंसा की नहीं है। उलझन अनर्थ-हिंसा से बढ़ रही है। प्रश्न है, क्या आज का मनुष्य अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा का विवेक कर रहा है? क्या आज के समाजशास्त्री और अर्थशास्त्री अर्थ-हिंसा की कोई तालिका बनाने को तत्पर नजर आ रहे हैं? क्या किसी धर्मगुरु ने ऐसी कोई तालिका बनाई है?

संतुलित भोजन की तालिका उपलब्ध है। उसे शारीरिक पोषण के लिए आवश्यक समझा गया है, पर मनस्पोषण को शायद उतना आवश्यक नहीं समझा गया है। इसलिए अर्थ-हिंसा और अनर्थ-हिंसा के बीच स्पष्ट भेद-रेखा नहीं खींची गई है। अधिक सुविधा देना और अधिक पदार्थों को बाजार में उपलब्ध कराना व्यावसायिक दृष्टि से जरूरी माना जा सकता है, पर संगत नहीं। यदि मानवीय चेतना को व्यवसाय के चौखटे में जड़ित किया जाएगा तो उसका भी व्यवसायीकरण हुए बिना नहीं रहेगा। आज के किशोरों और युवकों को इंद्रियों के आकर्षण को कम करने की बात समझाना सरल नहीं है। वे आकर्षण के साथ इतने बह चुके हैं कि प्रवाह को मोड़ने का सूत्र खोजना भी कठिन हो रहा है। हिंसा की बढ़ोतरी ही उसकी भयंकरता का एहसास कराएगी। तब आंख खुलेगी और विवश मनुष्य फिर सचाई की ओर लौटने की बात सोचेगा।

मानसिक तनाव का हेतु

अहिंसा निर्मल चेतना की अनुभूति है। राग, द्वेष और मोह—ये मल हैं। इनसे चेतना मलिन होती रहती है। राग की उत्तेजना, द्वेष की उत्तेजना और मोह की उत्तेजना—यह चेतना की मलिनता है। राग की उपशांति, द्वेष की उपशांति और मोह की उपशांति—इसका अर्थ है चेतना की निर्मलता। मनुष्य में राग, द्वेष और मोह की प्रकृति सहज है। पदार्थ का उद्दीपन मिलता है तो वे उभर आते हैं। पदार्थवादी और सुविधावादी दृष्टिकोण चेतना की निर्मलता के लिए, मानसिक शांति के लिए खतरा हैं। भीतर-ही-भीतर लालसा पनप रही है कि प्रिय वस्तु का संयोग हो, उसका वियोग न हो। महावीर की भाषा में यह आर्तध्यान है। यह मानसिक तनाव का मुख्य हेतु बनता है। इस प्रकार की मनोवृत्ति वाले व्यक्ति का व्यवहार पांच अंगों में विभक्त होता है—

1. व्यवसाय आदि की असफलता होने पर हीनभाव से ग्रस्त हो जाना।
2. दूसरे की संपदा पर विस्मय से अभिभूत हो जाना।
3. संपदा प्राप्त होने पर उसमें आसक्त हो जाना।
4. दूसरे की संपदा की इच्छा करना।
5. अधिकतम संपदा के अर्जन में दत्तचित्त रहना।

नशे की आदत की फलश्रुति

स्पर्धा के ये लक्षण मानसिक तनाव के हेतु हैं। जैसे-जैसे संपदा बढ़ती है, वैसे-वैसे शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है। एक ओर संपदा की वृद्धि, दूसरी ओर मानसिक तनावों की वृद्धि। जैसे-जैसे तनाव बढ़ता है, वैसे-वैसे मादक वस्तुओं की ओर झुकाव बढ़ता जाता है। नशे की आदत अमीर लोगों में ही नहीं होती, गरीब लोगों में भी होती है। उसका कारण अमीरी और गरीबी नहीं हैं, किंतु तनाव है। गरीब आदमी में अभाव-जनित तनाव होता है। अमीर आदमी में संपदा की अधिकता से उत्पन्न तनाव है। तनाव से घिरा हुआ आदमी शांति और सुख का जीवन नहीं जी सकता। इसलिए वह मादक वस्तुओं की शरण में जाता है। सचाई यह है कि आदमी बाहरी घटनाओं, घटना के संघर्ष से उत्पन्न चिंताओं से मुक्त रहकर जीना चाहता है। मादक वस्तुओं के सेवन से कुछ समय के लिए सब-कुछ विस्मृत हो जाता है। विस्मृति के क्षणों में एक सुखद अनुभूति होती है। वह अनुभूति उन मादक द्रव्यों के सेवन की प्रेरणा बन जाती है। उसका परिणाम सुखद नहीं है। तंबाकू कितना खतरनाक है, यह वैज्ञानिकों की घोषणाओं से प्रकट हो रहा है। शराब केवल शरीर के लिए ही नहीं, वृत्तियों को दूषित करने में भी बहुत हद तक उत्तरदाई है। मद्यपान न करने वाला उतना क्रूर नहीं हो सकता जितना एक मद्यप हो सकता है। अपराधी मनोवृत्ति का निर्माण करने में भी मद्य का बहुत बड़ा योग है।

असामंजस्य : इच्छा और क्रिया में

खान-पान और आचार-विचार का बहुत गहरा संबंध है। यह सचाई बहुत प्राचीनकाल से ज्ञात है। अहिंसा के विकास की पहली शर्त है—आहार-शुद्धि, मादक वस्तुओं

का वर्जन। आज का समझदार आदमी हिंसा की घटनाओं से बहुत चिंतित है। वह चाहता है कि समाज में सुख-शांति रहे, मार-काट, लूट-खसोट, उपद्रव और हत्याओं का सिल-सिला समाप्त हो। स्वस्थ समाज के लिए यह जरूरी है।

कार्य-कारण का सिद्धांत एक वास्तविकता है। अहिंसा के क्षेत्र में भी वह घटित होता है। मनुष्य हिंसा नहीं चाहता, किंतु हिंसा के कारणों को छोड़ नहीं पाता है। वह अहिंसा चाहता है, किंतु अहिंसा के लिए अग्रसर नहीं हो पाता। कारण की समग्रता में कार्य को न चाहने का अर्थ क्या होगा? कारण की असमग्रता में कार्य को चाहने का अर्थ क्या होगा? समस्या यह है कि मनुष्य की इच्छा और क्रिया में सामंजस्य नहीं है। यह असामंजस्य एक अजीब पहेली बना हुआ है।

अहिंसा के विकास का सशक्त साधन

मूल समस्या तनाव है। हिंसा की तीव्रता उसका एक परिणाम है। हम हिंसा की तीव्रता को नहीं चाहते। आज के विद्यार्थी और युवक नशे की आदत में जाएं—यह भी नहीं चाहते। तनाव भी नहीं चाहते। किंतु दिनचर्या, आचार-विचार और व्यवहार—पूरी जीवन-प्रणाली तनाव को बढ़ावा देने वाली बनी हुई है। इस चाह का क्या अर्थ है और क्या परिणाम है, इससे हम अनजान नहीं हैं। सब-कुछ जानते हुए भी आदमी सचाई के साथ आंख-मिचौनी खेल रहा है। क्या जीवन-प्रणाली को बदला नहीं जा सकता? अतिव्यस्तता और उससे उत्पन्न तनाव को कम नहीं किया जा सकता? क्या तनाव-विसर्जन के लिए कोई नया विकल्प नहीं खोजा जा सकता? ध्यान एक बहुत अच्छा विकल्प है तनाव-मुक्ति का और बहुत अच्छा उपाय है पदार्थ की अंधी-दौड़ तथा स्पर्धाजनित उतावलेपन से बचने का। महावीर की भाषा में अहिंसा के विकास का एक सशक्त साधन है—धर्म-ध्यान। जीवन में उसकी संगति अनेक विसंगतियों का समीचीन उपचार है। ❖

'...महत् शक्तियों के जिस शक्ति-संतुलन में हम अपनी इच्छा के विरुद्ध उलझे हुए हैं, वह केवल राजनीति, अर्थनीति अथवा सामान्य शक्ति की बात नहीं है : उसके साथ सांस्कृतिक शक्तियों का भी एक संतुलन और बल-परीक्षा जुड़ी हुई है। पिछले तीन-चार दशकों में स्थिति के राजनीतिक और आर्थिक पहलू पर तो बहुत जोर दिया गया है और उसकी समझ विकसित करने के अनेक प्रयत्न हुए हैं। जहां तक सांस्कृतिक प्रभाव-क्षेत्रों के बंटवारे अथवा सांस्कृतिक दबावों के संतुलन की बात है; इतना मान लिया जाता है कि ये राजनीतिक-आर्थिक स्थितियों के परिणाम ही होते हैं। इसीलिए इससे आगे इस प्रभाव-प्रक्रिया की पड़ताल नहीं की गई। यह बात भी नहीं समझी गई कि इस प्रक्रिया की उपेक्षा करने का एक नतीजा यह भी होता है कि परिस्थिति के प्रति एक भाग्यवादी दृष्टि विकसित होने लगती है। अगर सांस्कृतिक रिश्ते केवल राजनीतिक-आर्थिक संतुलन के आनुषंगिक परिणाम हैं तो फिर प्रभावों के प्रवाह की एक दिशा भी निर्धारित है—एक 'ऐतिहासिक' अनिवार्यता है।'

'कहा जा सकता है कि हमारे परिवेश की सबसे अधिक खतरनाक प्रवृत्तियों में से एक यह भाग्यवादी विचारधारा है। इससे परिवेशगत प्रक्रियाओं के प्रति एक उदासीनता ही नहीं पैदा होती, बल्कि एक विशेष प्रकार का अंधापन भी बढ़ता जाता है। साहित्यकार का काम है इस स्थिति के बीच में रहते हुए अपने चैतन्य को बनाए रखना और अपनी दृष्टि को विकसित करना। मैंने कहीं कहा है 'छंद कविता की आंख है'। यहां कह सकता हूं कि रचना की भाषा संस्कृति की आंख है। हमें वह आंख खुली रखनी है और इसके लिए उसे प्रतिदिन बहते स्वच्छ जल से धोते रहने की अपनी उपयोगिता है।'

—अज्ञेय

एक व्यक्ति में उच्चता है, किंतु गंभीरता नहीं है, एक में गंभीरता है, किंतु उच्चता नहीं है। मनस्वी पुरुष ऐसे होते हैं जिनमें उच्चता भी होती है और गंभीरता भी होती है। पर्वत और समुद्र को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया कि पर्वत में ऊंचाई होती है, किंतु गहराई नहीं दिखाई देती और समुद्र में गहराई होती है, किंतु ऊंचाई नहीं होती। दोनों में एक-एक गुण है और एक-एक गुण का अभाव है। बहुश्रुत व्यक्ति वह होता है जिसमें ज्ञान की गहराई होती है, तत्त्व को समझता है, अपेक्षा को समझता है। किस अपेक्षा से क्या बात कही गई, इस रहस्य को जानता है। उसका आचार पक्ष भी उच्चता लिए होता है। जिस व्यक्ति में ज्ञान का विकास हो गया, आध्यात्मिक चेतना का जागरण हो गया, वह व्यक्ति समभाव का साधक बन जाता है। हर स्थिति में संतुलन बनाए रखना उसकी जीवन-शैली का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता है।

❑❑

बहुश्रुत कौन

❑ युवाचार्यश्री महाश्रमण ❑

उत्तराध्ययन सूत्र के ग्यारहवें अध्ययन का विषय है—बहुश्रुत-पूजा। बहुश्रुत कौन होता है? जिसके पास बहुत ज्ञान हो—वह बहुश्रुत होता है। परंतु इस अध्ययन में बहुश्रुत को और अधिक व्यापक अर्थ में प्रस्तुत किया गया है। मात्र ज्ञान होने से ही आदमी बहुश्रुत नहीं बन जाता। उसके साथ अन्य अनेक विशेषताएं होती हैं। फिर भी सामान्यतया बहुत-ज्ञान वाले व्यक्ति को बहुश्रुत कहा जा सकता है और अल्प-ज्ञान वाले को अल्पश्रुत। निशीथ-भाष्य के अनुसार बहुश्रुत के तीन प्रकार बताए गए हैं—(1) जघन्य बहुश्रुत—जो निशीथ का ज्ञाता हो। (2) मध्यम बहुश्रुत—जो निशीथ और चौदह पूर्वों का मध्यवर्ती ज्ञाता हो। (3) उत्कृष्ट बहुश्रुत—जो चतुर्दश-पूर्वी हो।

आदमी श्रुत का अर्जन क्यों करे? आगमकार कहते हैं—'जेणऽप्पाणं परं चेव, सिद्धिं संपाउणेज्जासि'—अपनी मुक्ति के लिए और दूसरों की मुक्ति के लिए श्रुत का अर्जन करना चाहिए। क्योंकि ज्ञान है तो व्यक्ति स्वयं सन्मार्ग पर चल सकता है और दूसरों को भी सन्मार्ग पर प्रस्थित कर सकता है, स्वयं मोक्ष प्राप्त कर सकता है और दूसरों को भी मोक्ष-प्राप्ति में सहयोग प्रदान कर सकता है। दशवैकालिक सूत्र में श्रुत-अध्ययन के चार उद्देश्य बताए गए हैं—(1) मुझे श्रुत प्राप्त होगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए। (2) मैं एकाग्रचित्त बनूंगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए। (3) मैं आत्मा को धर्म में स्थापित करूंगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए। (4) मैं धर्म में स्थित होकर दूसरे को उसमें स्थापित करूंगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए।

श्रुत का अध्ययन करने वाला व्यक्ति स्थिर अध्यवसाई हो तो वह बहुश्रुत बन सकता है। तेरापंथ धर्मसंघ के चतुर्थ आचार्य जीतमलजी श्रुतशील आचार्य थे। उन्होंने अनेक ग्रंथ लिखे। उनके पास श्रुत का भंडार था। राजस्थानी भाषा में लाखों पद्यों की रचना की। गहनता से युक्त 'भगवती की जोड़' जैसे विशाल ग्रंथ की रचना की। श्रीमद् जयाचार्य ने संघीय व्यवस्था को भी इतना सुरूप प्रदान किया कि आने वाली परंपरा उनकी ऋणी है और रहेगी। पांचवें आचार्य मघवागणी ने अपने युवाचार्य माणक को शिक्षा फरमाते हुए कहा—जयाचार्य ने सड़क जमा दी है, अब ज्यादा परिश्रम की अपेक्षा नहीं है। अब तो मात्र लकड़ी हाथ में रखकर चलना है कि कोई इधर-उधर भटक न जाए।

बहुश्रुत को समझने से पहले अबहुश्रुत को समझ लेना चाहिए। अहिंसा को समझना है तो हिंसा को भी

समझना होगा। सत्य को जानना है तो असत्य को भी जानना होगा। अबहुश्रुत कौन होता है? 'जे यावि होइ निव्विज्जे थद्धे लुद्धे अणिग्गहे'—जो विद्याहीन होता है, ज्ञानहीन होता है, वह अबहुश्रुत होता है। विद्यावान होते हुए भी जो अभिमानी होता है, उसे भी अबहुश्रुत माना गया है। ज्ञान तो अहंकार को दूर करने वाला होता है, किंतु जब ज्ञान भी अहंकार-वृद्धि का साधन बन जाए तो अहंकार कैसे मिटे? स्वस्थ होने के लिए व्यक्ति दवा ले और दवा उसे बीमार बना दे तो उपचार किससे होगा? दवा भी विष का काम करने लग जाए तो फिर चिकित्सा कैसे होगी? जो सरल आहार में लुब्ध रहता है, रसास्वादी होता है, अजितेंद्रिय होता है, बार-बार असंबद्ध बोलता है, अविनीत होता है, उद्दंड होता है—उसे अबहुश्रुत की कोटि में लिया गया है। इन बातों को छोड़ने वाला व्यक्ति बहुश्रुत बन सकता है।

बहुश्रुत में मात्र ज्ञान ही नहीं होता, आचार का दूसरा पक्ष भी गरिमापूर्ण होता है। ज्ञान की गहराई हो और साथ में आचार की ऊंचाई न हो तो बहुश्रुतता में कमी आ सकती है। संस्कृत साहित्य में कहा गया—उच्चत्वभपरानाद्रो, नेदं सिंधौ गभीरता। अलंघनीयता हेतोर्द्वयमेतन्मनस्विनि।।—एक व्यक्ति में उच्चता है, किंतु गंभीरता नहीं है, एक में गंभीरता है, किंतु उच्चता नहीं है। मनस्वी पुरुष ऐसे होते हैं जिनमें उच्चता भी होती है और गंभीरता भी होती है। पर्वत और समुद्र को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया कि पर्वत में ऊंचाई होती है, किंतु गहराई नहीं दिखाई देती और समुद्र में गहराई होती है, किंतु ऊंचाई नहीं होती। दोनों में एक-एक गुण है और एक-एक गुण का अभाव है। बहुश्रुत व्यक्ति वह होता है जिसमें ज्ञान की गहराई होती है, तत्त्व को समझता है, अपेक्षा को समझता है। किस अपेक्षा से क्या बात कही गई, इस रहस्य को जानता है। उसका आचार पक्ष भी उच्चता लिए होता है। जिस व्यक्ति में ज्ञान का विकास हो गया, आध्यात्मिक चेतना का जागरण हो गया, वह व्यक्ति समभाव का साधक बन जाता है। हर स्थिति में संतुलन बनाए रखना उसकी जीवन-शैली का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन जाता है। जब समभाव की साधना जीवन में आ जाती है तो जीवन सुखी बन जाता है।

जहां तक बहुश्रुत मुनि का प्रश्न है, वह केवल व्याख्यान ही अच्छा नहीं देता है, अच्छी-अच्छी कहानियां ही नहीं सुनाता, अच्छा संगान ही नहीं करता—उसके जीवन में तो व्याख्यान बोलता है। साधुओं के व्याख्यान का महत्त्व इसीलिए है कि उनके जीवन में भी वही बात होती है जो वे कहते हैं। अन्यथा अच्छी-अच्छी बातें तो कोई भी विद्वान बता सकता है। मंगलपाठ किसको याद नहीं है? आदमी स्वयं भी पाठ बोल सकता है, किंतु शुभ कार्य करने से पहले वह साधु-संतों के पास मंगल पाठ सुनने आता है। क्योंकि संतों के पास साधना की शक्ति होती है। वे आचार का पालन करते हैं। जीवन में आचार का आ जाना, बहुत बड़ी बात है।

उत्तराध्ययन सूत्र में बहुश्रुत की सोलह विशेषताएं बताई गई हैं। पहली विशेषता बताते हुए आगमकार कहते हैं कि जिस प्रकार शंख में रखा हुआ दूध अपने और अपने आधार के गुणों से सुशोभित होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु में धर्म, कीर्ति और श्रुत दोनों ओर से सुशोभित होते हैं। यह उपमा बहुश्रुत की निर्मलता को प्रकट करती है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में भी मुनि को शंख की भांति निरंजन—राग-द्वेष और मोह से मुक्त बतलाया गया है।

दूसरी विशेषता जागरूकता का निर्देश करती है। जिस प्रकार कंबोज के घोड़ों में से कंथक घोड़ा शील आदि गुणों से आकीर्ण और वेग से श्रेष्ठ होता है। जैसे—आकीर्ण अश्व चाबुक को देखते ही संभल जाता है, वेगवान हो जाता है वैसे ही बहुश्रुत मुनि निरंतर जागरूक रहता है।

बहुश्रुत की तीसरी विशेषता पराक्रम की द्योतक है। कहा गया है—जहाइण्णसमारूढे सूरे दढ़परख्कमे। उभओ नंदिघोसेणं, एवं हवइ बहुस्सए।।—जिस प्रकार आकीर्ण अश्व पर आरूढ़ दृढ़ पराक्रम वाला योद्धा दोनों ओर होने वाले मंगलपाठकों के घोष से अजेय होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अपने आस-पास होने वाले स्वाध्याय-घोष से अजेय होता है। बहुश्रुत का मुख्य काम स्वाध्याय करना, पढ़ना-पढ़ाना होता है। वह स्वाध्याय में लीन रहता है। कभी साधुओं को पढ़ाता है तो कभी साध्वियों को। कभी श्रावकों को व्याख्यान सुनाता है, ज्ञान की बातें बताता है। बहुश्रुत्य प्राप्त करने के लिए अध्ययन को विस्तृत करना अपेक्षित होता है। लौकिक अनुभवों का भी ज्ञान हो और शास्त्रीय ज्ञान भी हो तो ज्ञान में, श्रुत में विस्तृतता आ सकती है। एक बार हम आचार्यवर के पास स्वाध्याय कर रहे थे। उसी दौरान एक संस्कृत श्लोक का अर्थ किया गया कि व्याघ्र से डरा हुआ आदमी अग्नि की शरण में चला गया। प्रश्न उठा कि व्याघ्र से डरने पर अग्नि की शरण स्वीकार करने का क्या मतलब है? कुछ और अध्ययन करने पर पता चला कि शेर, व्याघ्र आदि अग्नि से दूर रहते हैं। इनसे बचाव करने के लिए अग्नि जला दी जाए तो फिर वे वहां नहीं जाते हैं। लौकिक अनुभव और शास्त्रीय ज्ञान हो तो बहुश्रुत्य का

विकास हो सकता है। बहुश्रुत मुनि मात्र ज्ञानदान ही नहीं करता, उसके जीवन से ऐसी दिशा मिल सकती है जिससे आदमी की जीवन-शैली बदल सकती है।

बहुश्रुत भिक्षु की चौथी विशेषता बताते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार हथिनियों से परिवृत साठ वर्ष का बलवान हाथी किसी से पराजित नहीं होता, उसी प्रकार बहुश्रुत भिक्षु दूसरों से पराजित नहीं होता। आगमकार ने बहुश्रुत की तुलना पशुओं से की है। तीन विशेषताओं को बताने में तीन पशुओं का उपयोग किया है। पहला पशु है—हाथी। वह भी साठ वर्ष का हाथी। साठ वर्षों तक हाथी का बल बढ़ता रहता है उसके बाद कम होना शुरू हो जाता है। हाथी की पूर्ण बलवत्ता बताने के लिए साठ वर्ष का उल्लेख किया गया। ऐसा शक्तिशाली हाथी जैसे हथिनियों के बीच सुशोभित होता है। उसी प्रकार बहुश्रुत मुनि भी ज्ञान से बलवान होता है और मुनियों के बीच सुशोभित होता है।

पांचवीं विशेषता बहुश्रुत की प्राणवत्ता को प्रदर्शित करती है। जिस प्रकार तीक्ष्ण सींग और अत्यंत पुष्ट स्कंधवाला बैल यूथ का अधिपति बन सुशोभित होता है। पूर्ण युवा, अपराजेय और यूथ के मुखिया बैल का जो महत्त्व होता है, वही महत्त्व ज्ञान, आचार और अधिकारसंपन्न बहुश्रुत का संघ में होता है।

छठे उदाहरण में बहुश्रुत को सिंह की भांति दुष्प्रधर्ष बताया गया है। जिस प्रकार तीक्ष्ण दाढ़ों वाला, पूर्ण युवा और दुष्पराजेय सिंह आरण्य पशुओं में श्रेष्ठ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अन्यतीर्थिकों में श्रेष्ठ होता है। अन्यतीर्थिक भी उस पर वैचारिक आक्रमण नहीं कर सकते। बहुश्रुत का अपने संघ में महत्त्व होना भी अच्छी बात है। किंतु दूसरे संघ के लोग भी यह सोचें कि इस प्रश्न का समाधान अमुक संघ के उस विद्वान साधु द्वारा मिल सकेगा—यह और भी विशेष महत्त्व की बात होती है। बहुश्रुत मुनि ज्ञान के क्षेत्र में अपनी अमूल्य सेवाएं देता है। धर्मसंघ और अन्यतीर्थिकों के लिए भी वह बहुत उपयोगी होता है। क्योंकि वह एक-एक बात की सूक्ष्म विवेचना कर सकता है, समझा सकता है।

बहुश्रुत की सातवीं विशेषता बताते हुए आगमकार कहते हैं—जहासे वासुदेवे, संखचक्कगयाधरे। अप्पडिहयबले जोहे, एवं हवइ बहुस्सुए॥—वासुदेव के पास पांचजन्य नामक शंख, सुदर्शन चक्र और कौमोदकी नामक गदा होती है। इन तीनों से युक्त वासुदेव अप्रतिहत बल वाला होता है, शक्तिशाली होता है। बहुश्रुत व्यक्ति भी ज्ञान के क्षेत्र में शक्तिशाली होता है, अबाधित बल वाला होता है।

बहुश्रुत की आठवीं विशेषता लब्धिसंपन्नता को प्रकट करती है। जैसे—चक्रवर्ती महान प्रभावशाली होता है, छह खंडों का अधिपति होता है, चौदह रत्न—सेनापति, गाथापति, पुरोहित, गज, अश्व, बढ़ई, स्त्री, छत्र, चर्म, मणि, काकिणी, खड्ग और दंड उसके पास होते हैं। वैसे ही उत्कृष्ट बहुश्रुत मुनि भी चक्रवर्ती के समान होता है, उसके पास भी चौदह पूर्वों का ज्ञान होता है।

नौवीं विशेषता बहुश्रुत के स्वामित्व को बताती है। जैसे—इंद्र, सहस्राक्ष होता है। कहते हैं, इंद्र के पांच सौ मंत्री होते हैं। राजा मंत्रियों की आंखों से देखता है, नीति निर्धारित करता है, इसलिए 500 मंत्रियों की हजार आंखें होने से इंद्र को सहस्राक्ष कहा गया है। इंद्र के हाथ में वज्र होता है, वह देवों का स्वामी होता है और पुरों का विदारण करने वाला होता है। उसी प्रकार बहुश्रुत मुनि के पास भी श्रुत की आंखें होती हैं। आचारांग सूत्र भी एक आंख है, सूत्रकृतांग आदि भी एक-एक आंख हैं। इन आगमों के एक-एक पद्य, श्लोक आदि आंख का काम करते हैं, इसलिए बहुश्रुत भी सहस्राक्ष बन जाता है। इंद्र देवों का स्वामी होता है तो बहुश्रुत मुनि ज्ञानियों का, साधुओं का स्वामी होता है और कर्म-रूपी शत्रुओं का विदारण करने वाला होता है।

बहुश्रुत की दसवीं विशेषता तेजस्विता की द्योतक है। जैसे—बाल-सूर्य या दोपहर का सूर्य तेजस्वी होता है, अंधकार का नाश करने वाला होता है, वैसे ही बहुश्रुत मुनि भी अज्ञान-रूपी अंधकार का नाश करने वाला और ज्ञान के तेज से तेजस्वी होता है।

बहुश्रुत की ग्यारहवीं तुलना प्रतिपूर्ण चंद्रमा के साथ की है। सत्ताईस नक्षत्रों से घिरा हुआ चंद्रमा पूर्णिमा को प्रतिपूर्ण होता है। उसी प्रकार साधुओं के परिवार से परिवृत बहुश्रुत सकल कलाओं में परिपूर्ण होता है और चंद्रमा की भांति सौम्य होता है। उसका दर्शन हितकर और सुखकर होता है।

बारहवीं विशेषता में बहुश्रुत को कोष्ठागार की उपमा से उपमित किया गया है। प्राचीन काल में सामुदाइक अन्न-भंडार होते थे। उनमें नाना प्रकार के अनाज रखे जाते थे। चोर, अग्नि, चूहों आदि से बचाने के लिए पूरी सुरक्षा की जाती थी। ऐसे अन्न-भंडारों को कोष्ठागार कहा जाता था। जिस प्रकार सामाजिक लोगों का कोष्ठागार सुरक्षित और अनेक प्रकार के धान्यों से परिपूर्ण होता है उसी प्रकार बहुश्रुत नाना प्रकार के श्रुत से संपन्न होता है।

बहुश्रुत की तेरहवीं विशेषता को बताते हुए कहा गया—जहा सा दमाण पवरा, जंबू नाम सुदंसणा।

अणाढियस्स देवस्स, एवं हवइ बहुस्सुए।। जंबू वृक्ष जंबूद्वीप में होता है। इस द्वीप का अधिपति अनाहत नाम का देव है। इस देव का निवास स्थान जंबूवृक्ष है। जिस प्रकार जंबू वृक्ष सब वृक्षों में श्रेष्ठ होता है, आदर्श होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ होता है, सबका आदर्श होता है।

बहुश्रुत की चौदहवीं विशेषता ज्ञान की निर्मलता को प्रदर्शित करती है। जैसे—नीलवान् पर्वत से निकलकर समुद्र में मिलने वाली शीता (सीता) नदी अन्य नदियों में श्रेष्ठ और बड़ी होती है वैसे ही बहुश्रुत सब साधुओं में श्रेष्ठ और ज्ञानवृद्ध होता है।

बहुश्रुत की पंद्रहवीं विशेषता यह है कि नाना प्रकार की औषधियों, वनस्पतियों से दीप्त मेरु पर्वत अडोल रहता है, वैसे ही बहुश्रुत स्थिर, अध्यवसायी व ज्ञान के प्रकाश से दीप्त होता है।

बहुश्रुत की सोलहवीं और अंतिम विशेषता बताई गई है कि जैसे अक्षय जल वाला स्वयंभूरमण समुद्र अनेक प्रकार के रत्नों से भरा हुआ होता है, उसी प्रकार बहुश्रुत अक्षय-ज्ञान रत्नों और अतिशयों से संपन्न होता है।

दुनिया में शरीर से काम करने वाले अनेक लोग हो सकते हैं, पर दिशा-निर्देशन देने वाले सब नहीं हो सकते। उनके निर्देशानुसार अन्य लोग काम करते रहते हैं। निर्देष्टा बनना कोई सामान्य बात नहीं होती। बहुश्रुत मुनि भी एक प्रकार से निर्देष्टा ही होते हैं। उनका शारीरिक श्रम कम हो सकता है, किंतु दिमागी श्रम बहुत होता है। उनका मस्तिष्क सक्रिय रहता है। वे नए-नए रहस्यों को खोजते रहते हैं। उनके द्वारा खोजे गए एक-एक रहस्य संघ के लिए, संसार के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण बन जाते हैं। एक सामान्य मुनि भी ज्ञानार्जन के लिए निरंतर प्रयत्नशील रहे, पढ़ने-पढ़ाने, चिंतन और मनन में लगा रहे तो वह बहुश्रुत्य की दिशा में विकास कर सकता है। ❖

सज्जनो, इस देश में पर्याप्त पंथ हुए हैं। आज भी ये पंथ पर्याप्त संख्या में हैं और भविष्य में भी पर्याप्त संख्या में रहेंगे। कारण, हमारे धर्म के मूलतत्त्व इतने उदार हैं कि यद्यपि पीछे से उसी में से अनेकों संप्रदाय फैले हैं और उनकी बहुविध शाखा-प्रशाखाएं फूटी हैं, तो भी उनके तत्त्व हमारे सिर पर फैले हुए इस अनंत आकाश के समान विशाल हैं, स्वयं प्रकृति की भांति नित्य और सनातन हैं। अतएव संप्रदायों का होना तो स्वाभाविक ही है, परंतु जिसका होना आवश्यक नहीं है, वह है इन संप्रदायों के बीच के झगड़े-झमेले। संप्रदाय अवश्य रहें, पर सांप्रदायिकता दूर हो जाए। सांप्रदायिकता से संसार की कोई उन्नति नहीं होगी, पर संप्रदायों के न रहने से संसार का काम नहीं चल सकता। एक ही दल के लोग सब काम नहीं कर सकते। संसार की यह अनंत शक्ति कुछ थोड़े से लोगों से परिचालित नहीं हो सकती। यह बात समझ लेने पर हमारी समझ में यह भी आ जाएगा कि हमारे भीतर किसलिए यह संप्रदाय-भेदरूपी श्रमविभाग अनिवार्य रूप से आ गया है। भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक शक्ति-समूहों का परिचालन करने के लिए संप्रदाय कायम रहें। पर इसके लिए हमें एक दूसरे के साथ लड़ने-झगड़ने की कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती, जब हम देखते हैं कि हमारे प्राचीनतम शास्त्र इस बात की घोषणा कर रहे हैं कि यह सब भेदभाव केवल ऊपर का है, देखने भर का है, और इन सारी विभिन्नताओं के बावजूद भी इनको एक साथ बांधे रहने वाला परम मनोहर स्वर्णसूत्र इनके भीतर पिरोया हुआ है। हमारे प्राचीनतम शास्त्रों ने घोषणा की है कि 'एकं सत् विप्रा ब' धा वदंति'—विश्व में एक ही वस्तु विद्यमान है, ऋषियों ने उसी एक का भिन्न-भिन्न नामों से वर्णन किया है। अतएव ऐसे भारत में, जहां सदा से सभी संप्रदाय समान रूप से सम्मानित होते आए हैं, यदि अब भी संप्रदायों के बीच ईर्ष्या-द्वेष और लड़ाई-झगड़े बने रहें, तो धिक्कार है हमें, जो हम अपने को उन महिमान्वित पूर्वजों के वंशधर बताने का दुस्साहस करें!

—स्वामी विवेकानंद

अनुशासन के संदर्भ में स्वतंत्रता का अर्थ सापेक्ष है, किसी भी नियम का पालन बंधन या परतंत्रता नहीं, अपितु व्यवस्था है। बालवय में नियंत्रण और अनुशासन अनिवार्य है, अन्यथा नियंत्रण-मुक्त स्वतंत्रता पाकर व्यक्ति अपना अहित कर लेता है। सफल नेतृत्व वही है जो प्रारंभ में अनुशासन करके धीरे-धीरे उनके मन में निर्देश और अनुशासन के प्रति स्वतःनिष्ठा जगा दे।

स्वतंत्र का अर्थ है—स्व अर्थात् अपना, तंत्र अर्थात् नियम। स्वतंत्र व्यक्ति बाह्य अनुशासन से मुक्त होने पर भी आंतरिक अनुशासन से मुक्त नहीं हो सकता। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी शिष्य की स्वानुशासी स्वतंत्र चेतना जगाने में विश्वास करते थे। वे मानते थे कि जो नेता अपने अनुयाइयों में आत्मानुशासन की स्वतंत्र चेतना नहीं जगा सकता, वह अनचाही समस्याओं में उलझ जाता है।

❑❑

वात्सल्य और कठोरता : अनुशासन शैली के अंग

❑ समणी डॉ. कुसुमप्रज्ञा ❑

- ⊙ *मैं अनुशासनहीनता के युग में अनुशासन का कल्पवृक्ष उगाना चाहता हूं।*
- ⊙ *मैं सब-कुछ सहन कर सकता हूं पर अनुशासनहीनता कतई बर्दाश्त नहीं कर सकता।*
- ⊙ *जिस किसी साधु-साध्वी में मर्यादा और सिद्धांत का अतिक्रमण मेरी नजर में आता है, मैं तत्काल उसे सचेत करता हूं और अनुशासनात्मक कार्यवाही करता हूं।*
- ⊙ *अनुशासन आपका भविष्य है, आपकी पीढ़ी का भविष्य है और आपके राष्ट्र का भविष्य है। इसकी अवहेलना मत करो। उसे जीना सीखो, पूरी ईमानदारी के साथ जीना सीखो।*

अनुशासन-पुरुष गुरुदेवश्री तुलसी के ये वक्तव्य अनुशासन के प्रति उनकी गहरी निष्ठा को व्यक्त करने वाले हैं। वे मानते थे कि अनुशासन का अस्वीकार जीवन की पहली हार है। पांच अनुशासित व्यक्ति जो काम कर सकते हैं, वह काम अनुशासनहीन पांच सौ व्यक्ति भी नहीं कर सकते। आचार्य महाप्रज्ञजी के शब्दों में आचार्य तुलसी को सबसे अधिक प्रिय वस्तु अनुशासन और व्यवस्था थी। उन्होंने जीवन-भर अनुशासन और व्यवस्था को सम्मान दिया। कब, कहां, क्यों, कैसे और किस पर अनुशासन किया जाए, इस कला को वे अच्छी तरह जानते थे। उनकी सांस-सांस में अनुशासन बसा हुआ था। संघ के व्यक्ति-व्यक्ति में अनुशासन को प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने जयाचार्य निर्वाण शताब्दी के अवसर पर पूरे वर्ष को 'अनुशासन-वर्ष' के रूप में मनाया। वे मानते थे कि साधु, कवि, लेखक, वक्ता, साहित्यकार, अवधानी आदि सब-कुछ होने पर भी यदि अनुशासनहीन और आचारहीन हैं, तो वे अधूरे हैं। प्रवचनकार, साहित्यकार, कलाकार आदि—यदि अनुशासन का लोप करते हैं तो वे सम्मान्य की श्रेणी में नहीं आते हैं, उनका कोई महत्त्व नहीं रहता। सामान्यजनों को भी ऐसे व्यक्ति को प्रश्रय नहीं देना चाहिए।

पावन जन्मोत्सव पर हर्षित जन-मन

समूह-चेतना के विकास का पहला सूत्र है—अनुशासन। कोई भी संगठन अनुशासन के बिना तेजस्वी, स्वस्थ और दीर्घजीवी नहीं बन सकता। एक पाश्चात्य विद्वान के अनुसार जीवन में विकटतम कठिनाइयां तभी शुरू होती हैं, जब व्यक्ति मनमानी करता है। अनुशासन के संदर्भ में गुरुदेवश्री तुलसी का मंतव्य था कि जिस समाज में अनुशासन नहीं

होता, वह विशृंखल हो जाता है और जहां अनुशासन थोपा जाता है, वहां कुंठा उत्पन्न हो जाती है। अनुशासक को यह जानना जरूरी है कि कब सहा जाए और कब कहा जाए। हर समय कहा ही जाए तो धागा टूट जाता है और हर वक्त सहा ही जाए तो वह हाथ से छूट जाता है।

निरंकुश और अधिनायकवादी नेतृत्व अनुयाइयों पर केवल कठोर अनुशासन ही कर सकता है। हृदय पर शासन नहीं कर सकता। आचार्य तुलसी ने एकतंत्र में जनतंत्रीय शासन प्रणाली को अपनाया, जिससे एकसूत्रता भी बनी रहे और सबकी भावना भी समझी जाए। अनुशासनहीनता के इस युग में जहाँ एक परिवार के सदस्य भी अपने मुखिया के इंगित पर नहीं चलते, वहां सैकड़ों प्रबुद्ध साधु-साध्वियों को एक डोर में रखना सचमुच आश्चर्य का विषय है। गुजरात में एक आचार्य ने गुरुदेव तुलसी से पूछा—'आप सात सौ से ऊपर साधु-साध्वियों का नेतृत्व कैसे करते हैं? क्या आपको रात में नींद आ जाती है? मेरे पांच-सात शिष्य हैं, लेकिन उन पर अनुशासन करने और सामंजस्य बिठाने में भी अत्यंत कठिनाई की अनुभूति होती है, फिर इतने साधु-साध्वियों पर एकछत्र शासन करना तो कितना कठिन कार्य है?' तुलसीगणी ने फरमाया—'हमारे धर्मसंघ में अनुशासन इतना कठिन कार्य नहीं है, क्योंकि यहां अनुशासन की परंपरा शुरू से ही चल रही है। हमारा धर्मसंघ इतना प्रशिक्षित हो गया है कि अनुशासनहीनता की स्थिति आती भी है तो प्रश्रय नहीं पाती।'

अहंकार और अनुशासन में 36 के अंकों का-सा संबंध है। अहंकारी नेतृत्वकर्ता कभी भी हृदय से अनुशासन का पालन नहीं करवा सकता। ठीक इसी तरह अहंकारी अनुयायी भी अनुशासन को बंधन मानकर उसके अस्तित्व को नकार देता है। पूज्य गुरुदेव कहते थे—'अनुशासन को अमृत वही मानता है, जिसके अंतःकरण से अहं-रूपी विष निकल गया हो। जिसकी प्राणधारा में अहं का जहर घुला रहता है, वह अमृत का स्वाद कैसे जान सकता है?'

गुरुदेवश्री तुलसी का अनुशासन विविधमुखी था। कभी वे वाणी के द्वारा अनुशासन करते, तो कभी केवल दृष्टि के माध्यम से ही कड़े-से-कड़ा अनुशासन कर डालते। कभी मौन के द्वारा, तो कभी घटना-विशेष या गोष्ठी के माध्यम से अनुशासन की चेतना जगा देते।

खाने, पीने, सोने, उठने, बैठने, लिखने और बोलने—इन सब प्रवृत्तियों में गुरुदेव तुलसी की अनुशासनप्रिय दृष्टि उभरती हुई नजर आती थी। सामाजिक अनुशासन के प्रति भी वे बहुत जागरूक थे। उन्होंने चतुर्विध संघ को पंक्तिबद्ध बैठना, पंक्तिबद्ध चलना आदि छोटी-छोटी बातों में भी अनुशासन का सक्रिय प्रशिक्षण दिया। आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में उनकी धर्मसभा का अनुशासन और मौन दर्शनीय बन गया था। सबसे अंतिम पंक्ति में गिना जाने वाला तेरापंथ समाज आज उनके अनुशासनात्मक प्रयत्नों से अग्रणी के रूप में विख्यात हो गया है।

योग्य नेता अपने अनुयाइयों पर कम-से-कम अनुशासन करना चाहता है। उसका लक्ष्य हर एक के भीतर आत्मानुशासन की चेतना जगा देना होता है। मर्यादाओं का उल्लंघन वहीं होता है, जहां वे सहज स्वीकृत न होकर, थोपी हुई होती हैं। गुरुदेवश्री तुलसी की दृष्टि में वह समाज उन्नत और सुसंस्कृत माना जाता है जहां ऊपर की मर्यादाएं कम-से-कम तथा आत्म-संयम का भाव अधिकाधिक विकसित रहता है। वे बाह्य अनुशासन की अपेक्षा शिष्यों का आत्मानुशासन जगाने में अधिक विश्वास करते थे। वे अपने अनुयाइयों का हृदय बदलने का प्रयत्न करते थे। बलात् अनुशासन थोपने में उनका विश्वास नहीं था। वे कहते थे कि मेरा विश्वास आत्मानुशासन जगाने में है—मैं अधिक नियमों को आवश्यक नहीं मानता, लेकिन कुछ नियम अध्यात्म-विकास के लिए आवश्यक हैं। निम्न पंक्तियों में उनके व्यक्तित्व की विशालता, उदारता और निस्पृहता व्यक्त हो रही है—'मैं अपने संघ के साधु-साध्वियों को इतना पूर्ण देखना चाहता हूं कि एक शासनविहीन समाज की कल्पना हमारे संघ में साकार हो जाए। मैं सबके विचारों में उन्मेष देखना चाहता हूं।'

आचार्य तुलसी अहंकार और विद्रोह के साथ उपजी उच्छृंखलता के कट्टर विरोधी थे, लेकिन वे सदा यह चाहते थे कि संघ के प्रत्येक सदस्य की स्वतंत्र सोच विकसित हो। प्रबुद्ध एवं योग्य शिष्यों के स्वतंत्र चिंतन को वे सदा प्रोत्साहित करते रहते थे। कोई साधु-साध्वी किसी विषय में स्वतंत्र चिंतन प्रस्तुत करते तो उन्हें बहुत प्रसन्नता होती थी। आचार्य महाप्रज्ञ जब युवाचार्य बने तब किसी ने उनसे पूछा—'मुनि अवस्था में आपने अपने मौलिक चिंतन से पूरी भारतीय संस्कृति को उपकृत किया है, लेकिन अब आप युवाचार्य बन गए हैं, इस पद की एक बंधी-बंधाई सीमा है, क्या आप इस सीमित दायरे में रहकर पूर्ववत् स्वतंत्र चिंतन दे सकेंगे?' युवाचार्य महाप्रज्ञ ने उत्तर दिया—'मेरे गुरु आचार्य तुलसी ने मेरे चिंतन को कभी रोका नहीं, किंतु प्रोत्साहित किया है। मुझे नहीं लगता कि

युवाचार्य पद पर रहते हुए मेरा स्वतंत्र चिंतन प्रतिहत होगा। मैं अपनी पूर्वस्थिति और वर्तमान स्थिति में कोई अंतर नहीं देख रहा हूं।'

सफल अनुशासक वह होता है—जो समय, व्यक्ति और स्थिति के अनुसार अनुशासन करे। बौद्ध संप्रदाय में आचार्य का एक गुण बताया है—उपाय-कौशल। उपाय-कौशल का तात्पर्य यह है कि अनुशासन का एक प्रयोग किसी एक व्यक्ति पर सही हो, वह दूसरे पर भी लागू हो जाए—यह जरूरी नहीं है। अतः उपाय-कौशल के द्वारा अनुशास्ता परिस्थिति देखकर अनुशासन का प्रयोग करते हैं।

अनुशासन के घटक हैं—प्रेरणा और प्रोत्साहन, सारणा और वारणा, निग्रह और अनुग्रह। यद्यपि ये विरोधी तत्त्व हैं, पर जो नेता इनका प्रयोग नहीं करता, उसका नेतृत्व असफल हो जाता है। जिस संगठन का नेता गलती पर दंडित और उचित कार्य पर प्रोत्साहित नहीं करता, वह संगठन निष्क्रिय और गतिहीन हो जाता है। केवल निरंकुशता या कठोरता से समूह टूट जाता है, केवल ढील से गलती का प्रतिकार नहीं होता। अनुशासन के मामले में पूज्य गुरुदेव वज्र से भी अधिक कठोर तथा वात्सल्य देने में नवनीत से भी अधिक कोमल थे। इस संदर्भ में युवाचार्य महाश्रमण की निम्न अनुभूति पठनीय है—'पूज्य गुरुदेव कुशल अनुशास्ता थे। उनकी अनुशासन-शैली के अंग थे—वात्सल्य भाव और कठोरता। वे इन दोनों का प्रयोग करते थे। वत्सलता का प्रयोग करते तो कई बार प्रचुर मात्रा में वात्सल्य और स्नेह उड़ेल देते और यदा-कदा जब प्रशासनिक स्तर पर कड़ाई करते तो वह भी करीब-करीब पराकाष्ठा तक पहुंचने वाली होती थी। इस कड़ाई के बावजूद भी उनमें बड़ी निर्मलता थी, कषाय का हल्कापन था—ऐसा प्रतीत होता है।'

आचार्य और अनुशास्ता होने के नाते अनेक बार उन्हें कठोर उपालंभ या प्रायश्चित्त भी देना पड़ता, लेकिन उसका प्रभाव वे अपनी साधना पर नहीं आने देते थे। उनका 'आत्म-साधक' भीतर से सदैव जागरूक रहता था। इसलिए कड़ी-से-कड़ी और कठोर अनुशासनात्मक कार्रवाई भी उनकी साधना के शाश्वत प्रवाह को विशृंखलित नहीं कर पाती थी। उनकी कठोर प्रशासनिक कार्रवाई में मुख्यतः व्यक्ति का हित-चिंतन एवं सुधारवादी दृष्टिकोण निहित रहता था। कोई साधक जब उनकी कोमलता का दुरुपयोग करने लगता, साधना को नगण्य समझकर मर्यादा और अनुशासन की अवहेलना करने लगता, अनुशासन को बंधन मानकर उसका अतिक्रमण करता अथवा अपनी गलत प्रवृत्ति से संघ को दूषित करने का प्रयत्न करता—तब उन्हें अपने कोमल स्वभाव को भी कठोरता में परिवर्तित करते संकोच नहीं होता था। इस संदर्भ में पूज्य गुरुदेव का अनुभव उन्हीं के शब्दों में पठनीय है—'कभी-कभी मेरे व्यवहार को लेकर किसी को यह प्रतीति हो सकती है कि मैं क्रोधावेश में बोलता हूं, किंतु अनेक बार मुझे अनुभव होता है कि मेरे मन में क्रोध का किंचित भी भाव नहीं है—फिर भी मैं तेज बोलता हूं। तेज बोलना आवश्यक समझकर बोलता हूं, क्योंकि मेरा लक्ष्य क्रोध को शांत रखना है, गलती को आई-गई करना नहीं।'

गुरुदेवश्री तुलसी ने शास्त्रीय मर्यादा के साथ संघीय अनुशासन पर भी बहुत ध्यान दिया। संघीय अनुशासन का भंजन चाहे निकट परिपार्श्व में रहने वाले व्यक्ति के द्वारा हो या आत्मीय जन द्वारा, वे उसे क्षम्य नहीं करते थे। जब कभी संघ की कोई समस्या या संघीय अनुशासन-भंग होने की घटना गुरुदेव के ध्यान में आती तो वे अन्य सब कार्यों को गौण मानकर पहले उसके बारे में निर्णय लेते थे। अनुशासन के मामले में उन्हें थोड़ा विलंब भी सह्य नहीं था।

अनुशासन के संदर्भ में वे कहते थे—'मेरी बात किसी को अमृततुल्य लगती होगी, तो किसी को जहरतुल्य भी, परंतु मुझे जो अनुचित लगता है, उसे मैं निःसंकोच, निर्भय होकर कहता हूं, क्योंकि मैं किसी व्यक्ति-विशेष से जुड़ा हुआ नहीं हूं।'

अनेक बार देखा जाता कि एक क्षण पहले गुरुदेव कड़े शब्दों में उपालंभ देते, लेकिन दूसरे ही क्षण प्रशासनिक संदर्भ पूरा होने पर वात्सल्यपूर्वक उसी व्यक्ति के साथ अच्छी तरह बात करने लगते। उनके नयनों और वचनों से वात्सल्य का निर्झर फूट पड़ता। आहार से पूर्व किसी पर अनुशासनात्मक कार्रवाई करते हुए देख साधु-साध्वियां सोचते कि आज आहार कैसे हो पाएगा, लेकिन गुरुदेव दूसरे ही क्षण सहज होकर आहार-क्रिया में संलग्न हो जाते। ऐसा इसलिए संभव हो जाता क्योंकि वे हितचिंतक और कल्याणमित्र के रूप में अपने अनुयाइयों पर शासन करते थे।

कुशल वैद्य की भांति उन्हें कभी कड़वी दवा पिलानी पड़ती और कभी मीठी भी। जैसे शल्य चिकित्सक मरीज की शल्यक्रिया करके उसे एक बार कष्ट पहुंचाता है, लेकिन वह उसके भविष्य के लिए हितकर होती है—'मैं एक क्षण किसी को कड़ा उलाहना देता हूं तो दूसरे क्षण उससे हंसकर बोल लेता हूं और छाती से भी लगा लेता हूं। मेरी प्रकृति ही ऐसी

है कि मैं कड़ाई को अधिक टिका नहीं सकता। यदि कड़ाई को जमा करके रखूं तो शायद मेरा दिमाग पूरा काम भी न कर पाए। मैं गुरु हूं अतः ग्रंथि बांध नहीं सकता। गलती पर मैं रुलाता हूं तो मैं ही हंसाता भी हूं।' इस संदर्भ में पूज्य गुरुदेव का निजी अनुभव पठनीय है। यहां उनके इसी अनुशासन का एक प्रसंग प्रस्तुत है—

पूज्य गुरुदेव की सन्निधि में किसान सम्मेलन का आयोजन था। कार्यक्रम में स्थानीय श्रावक एवं यात्री आगे बैठे थे। गुरुदेव ने ग्रामीण किसानों को आगे बैठने का निर्देश दिया। संकेत मिलते ही कुछ श्रावक पीछे चले गए, लेकिन कुछ यथावत बैठे रहे। यह गुरुदेव को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने सभा के मध्य श्रावकों को संबोधित कर कहा—'एक बार दिए निर्देश के प्रति लापरवाही क्यों? क्या आप लोगों को अनुशासन का ध्यान नहीं है?' गुरुदेव के अनुशासनात्मक उपालंभ को सुनकर श्रावक पीछे जाकर बैठ गए। बाद में प्रवचन में विषय को मोड़ देते हुए श्रावक समाज पर वात्सल्य-वर्षा करते हुए गुरुदेव ने कहा—'हमारे श्रावक कितने विनीत हैं! निर्देश मिलते ही आगे का स्थान खाली कर दिया। बैठने के बाद उठना कितना मुश्किल होता है। आगे बैठने में इनकी गलती भी क्या थी? पहले आए, आगे बैठ गए। मैंने कड़ाई से इनको टोक दिया, फिर भी ये कितने शांत रहे।' गुरुदेव के इन कृपापूर्ण शब्दों ने श्रावकों को अभिभूत कर दिया। किसी के मन पर थोड़ा-बहुत असर हुआ भी तो वह इस कृपा से धुलकर साफ हो गया। गांव के लोग भी प्रसन्न एवं प्रभावित हुए। उन्हें लगा कि ये हमारे भी गुरु हैं, अन्यथा हमको आगे कौन बैठने देता है।

आज्ञा, अनुशासन के संदर्भ में वे छोटी-से-छोटी बात के प्रति जागरूक रहते थे। इसमें वे छोटे-बड़े, शिक्षित-अशिक्षित या किसी भी साधु-साध्वी को छूट नहीं देते थे।

पूज्य गुरुदेव का निग्रह के साथ-साथ अनुग्रह का रूप भी अद्भुत और अनूठा था। आचार्य पद-विसर्जन के बाद उन्होंने संस्कृत में अपनी भावना लिखते हुए कहा—'न मया केवलं उपालम्भः एव प्रदत्तः वर्धापनमपि विहितम्। इदानीमहं पितृस्थानीयः गुरुस्थानीयोऽस्मि। यूयं सर्वे मम पुत्राः शिष्याश्च। सर्वान् प्रति मम प्रगाढं प्रेम विद्यते। यदा युष्माकं सर्वेषां विनयं आत्मीयभावं च पश्यामि मम चक्षुषी आर्द्रीभवतः।'

संवत्सरी के बाद जब वे चतुर्विध धर्मसंघ से क्षमायाचना करते थे तब हृदयग्राही दृश्य बन जाता था। प्रातःकाल जब सबको संबोधित करके क्षमायाचना करते तो सबकी आंखें गीली हो जाती थीं। वे कहते थे—'अनुशास्ता होने के कारण मुझे कभी-कभी कठोर अनुशासन करना पड़ता है, उपालंभ देना पड़ता है और कभी-कभी कठोर प्रायश्चित्त भी देना पड़ता है, इससे किसी को मानसिक आघात पहुंच सकता है। लेकिन मैं अपने दिमाग में कोई बात जमा करके नहीं रखता। दायित्व के लिए कहना पड़ता है।'

विनीत साधु के प्रति उनका वात्सल्य समय-समय पर प्रकट होता रहता था। दूर बैठे शिष्य के प्रति भी उनका वात्सल्य संदेश या पत्र के माध्यम से प्रकट हो जाता था। मदनमुनि को पत्र प्रेषित करते हुए गुरुदेव ने उनका जो मूल्यांकन किया है, वह विरले ही व्यक्तियों को प्राप्त होता है—'वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः—मदनमुनि ठीक इसी तरह का साधु है। वह वहां बैठा है पर उसको मैं कभी नहीं भूल सकता। यह समझो कि तुम सदा मेरे पास ही हो।'

कठोर अनुशासन करने के बाद भूल करने वाले व्यक्ति को वे इतना स्नेह और वात्सल्य देते जिससे वह अपनी भूलों को परिमार्जित करके भविष्य के लिए सावधान हो जाता। उनका अनुशासन सापेक्षता के साथ जुड़ा हुआ था। न इतना मृदु था कि उसमें अनुशास्ता का अस्तित्व ही न रहे और न इतना कठोर था कि व्यक्ति टूट ही जाए।

अनुशासन करते हुए भी पूज्य गुरुदेव व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप नहीं करते थे। वे मानते थे कि मेरी स्वतंत्रता तभी बनी रह सकती है जब मैं दूसरों की स्वतंत्रता की रक्षा करूं, सबकी स्वाधीनता का सम्मान करना सीखूं। अनुशासन के संदर्भ में स्वतंत्रता का अर्थ सापेक्ष है, किसी भी नियम का पालन बंधन या परतंत्रता नहीं, अपितु व्यवस्था है। बालवय में नियंत्रण और अनुशासन अनिवार्य है, अन्यथा नियंत्रण-मुक्त स्वतंत्रता पाकर व्यक्ति अपना अहित कर लेता है। सफल नेतृत्व वही है जो प्रारंभ में अनुशासन करके धीरे-धीरे उनके मन में निर्देश और अनुशासन के प्रति स्वतःनिष्ठा जगा दे। उनका मंतव्य था कि जो व्यक्ति प्रारंभ में अनुशासित जीवन जीते हैं वे आगे जाकर स्वतंत्र बनने की योग्यता अर्जित कर लेते हैं। जो प्रारंभ में स्वतंत्र रहना चाहते हैं; वे कभी बंधनमुक्त बन सकें—यह असंभव है। वे सदा शासित ही रहते हैं।

पूज्य गुरुदेव ने कहा—स्वतंत्र का अर्थ है—स्व अर्थात् अपना, तंत्र अर्थात् नियम। स्वतंत्र व्यक्ति बाह्य अनुशासन से मुक्त होने पर भी आंतरिक अनुशासन से

मुक्त नहीं हो सकता। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी शिष्य की स्वानुशासी स्वतंत्र चेतना जगाने में विश्वास करते थे। वे मानते थे कि जो नेता अपने अनुयाइयों में आत्मानुशासन की स्वतंत्र चेतना नहीं जगा सकता, वह अनचाही समस्याओं में उलझ जाता है।

सीमा और अनुशासन में रहने वाला अनुशास्ता ही असीम और व्यापक कार्य कर सकता है। मुंबई में गुरुदेव जिस मकान में ठहरे थे वहां बड़े-बड़े कक्ष थे, जिनमें सैकड़ों आदमी एक साथ बैठ सकें। तीन दिन बाद कुछ छोटे कमरे खुल गए। पूज्य गुरुदेव ने अपने बैठने का स्थान परिवर्तित कर लिया। मुनिश्री नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) गुरुदेव के पास आकर बोले—'आज तो आचार्यश्री को भी सीमा और घेरा स्वीकार करना पड़ा।' गुरुदेव ने मुस्कान बिखेरते हुए कहा—'घेरा डालना अच्छी बात नहीं है, पर घेरे में रहना बहुत जरूरी है। तीन दिन से उस बड़े कक्ष में कुछ काम नहीं हो पा रहा था। आज कुछ कार्य हो सका है, सीमा में रहने से ही असीम कार्य हो सकता है।' पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी के इस वाक्य से यही तथ्य निकलता है कि असीम और व्यापक बनने से पूर्व एक सीमा अनिवार्य है।

पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी ने केवल संघीय अनुशासन को ही पुष्ट नहीं किया बल्कि समाज, राष्ट्र और संपूर्ण विश्व में अनुशासन को प्रतिष्ठित करने के लिए भी अहर्निश प्रयत्न किया। राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा था—'राष्ट्र में अनुशासन का सीधा संबंध सरकार से होता है, पर मुझे प्रसन्नता है कि जिस अनुशासन की प्रतिष्ठा का कार्य सरकार को करना चाहिए, उसे आचार्य तुलसी ने शुरू किया है। अनुशासन के बिना कोई भी राष्ट्र सुरक्षित नहीं रह सकता।'

बीसवीं सदी में अनुशासन के क्षेत्र में आचार्य तुलसी ने जो मानक स्थापित किए हैं, वे भारतीय संस्कृति में धरोहर के रूप में सदैव स्मृति में रखे जाएंगे। उनका प्रखर अनुशास्ता का रूप अनेक अनुशासकों के लिए मील का पत्थर साबित होगा। ❖

आनंद की मीमांसा में अच्छी बात यह है कि अज्ञात ब्रह्म के विषय में, जिसको तुम जानते हो, उससे आरंभ कर रहे हो। हमेशा जो सीखना हो उसके परिचित एक पहलू को लेकर फिर अन्य विवरण में जा सकते हो। ज्ञात को लेकर अज्ञात में जा सकते हो। इसलिए आनंद के बारे में जो तुम जानते हो समझ सकते हो, उसे एक माप मानकर फिर धीरे-धीरे अनंत जो वास्तविक आनंद का स्तर है उसमें चले जा सकते हो। नारद जी को उपदेश देते हुए सनतकुमार ने बताया—'यो वै भूमा तत् सुखं—अनंत ही सुख है।' उस अनंत के स्तर में जाने के लिए आनंद की मीमांसा करनी है। आनंद की मीमांसा उपनिषदों में दो स्थानों पर, ज्यों-की-त्यों, एक जैसी आई है। थोड़ा शब्द मात्र का भेद है। एक तो यह प्रसिद्ध तैत्तिरीयोपनिषद् की आनंद मीमांसा है और दूसरी बृहदाख्यक उपनिषद् के याज्ञवल्क्य-जनक संवाद में। बृहदाख्यक उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय में ऋषि याज्ञवल्क्य राजा जनक को उपदेश दे रहे हैं। बड़े विस्तार से ब्रह्मज्ञान का प्रतिपादन जनक को किस प्रकार कराया, उसका सारा विवरण उसमें है। उसके एक प्रसंग में याज्ञवल्क्य जनक को आत्मा के विषय में बतलाते हैं कि आत्मा वह है जो सारे विषयों को देखती है, भोगती है और कर्म करती है। जब निद्रा आ जाती है, जब इंद्रियां काम नहीं करतीं और विषय की प्रतीति कमजोर हो जाती है। उस समय भी आत्मा अपने प्रयोग को चालू रखना चाहती है, तो अपने ही विषयों को वह बना लेती है। अपने ही लोक का सर्जन कर लेती है। इसको स्वप्न कहते हैं। अवस्थात्रय का विश्लेषण करते हुए स्वप्न का वर्णन किया है स्वप्न में आत्मा सब कुछ किस प्रकार बन जाती है। स्वयं द्रष्टा भी बन जाती है, स्वयं दृश्य भी बन जाती है। ऐसी ताकत उसमें है। जैसे माया से ईश्वर समग्र जगत रूप बन गए। उसी प्रकार स्वप्न में जीव अनेक रूप बन जाता है। वह ईश्वर से कोई कम नहीं है। ईश्वर भी चैतन्य है और जीव भी चैतन्य है। इस चैतन्य प्रकाश को बतलाने के लिए ही स्वप्न का दृष्टांत है।

—स्वामी ईश्वरानंद गिरि

मैं सर्वार्थ-सिद्धि के अनुत्तर विमान की रेलिंग पर खड़ा हूं, और मेरे मस्तक पर प्राग्भार पृथ्वी की अर्द्ध-चंद्राकार सिद्ध-शिला जाज्वल्यमान है। वही मेरा अंतिम घर है। उसमें अनंत कोटि सिद्धात्माएं अपने विशुद्ध ज्ञान-शरीर में, स्वप्रतिष्ठित हैं। अपने आत्यंतिक निजत्व में, वे नित्य घर पर हैं। और उसी क्षण वे अपने ज्ञान की अनंत ज्योति से त्रिलोक और त्रिकाल के हर परिणमन में रमण कर रही हैं।

❑❑

कहानी

कैवल्य का प्रभामंडल

❑ वीरेन्द्र कुमार जैन ❑

हठात् भीतर के अतल में एक महा घटस्फोट हुआ। ऊपर के अज्ञात में अनादि अंधकार का विराट गुंबद विदीर्ण हो गया। परात्पर हृदय की कमल-कर्णिका में अनायास शुभ्र निरंजन ज्योति प्रस्फुटित हो उठी। एक ही समय में उसमें समस्त लोकालोक प्रकाशित हो उठे।

···अकस्मात् मेरा आसन उत्थान हो गया।···अंतरिक्ष के अधर में उत्फुल्ल अंभोज की तरह आसीन हूं। मस्तक के चारों ओर असंख्यात सूर्य-चंद्रों का प्रभा-मंडल उद्भासित है। सारे ही ग्रह-तारा मंडल उसमें तरंगित हैं।

मैं बाहर की ओर उन्मुख हुआ। मेरी आंखें निखिल पर खुल उठीं। भीतर और बाहर भिन्न नहीं रहे। वे मेरे एक ही ज्ञानचक्षु के दो अविनाभावी आयाम हो गए। दिशाएं दर्पण की तरह स्वच्छ हो गई हैं। सर्वत्र शाश्वत वसंत का मलयानिल बह रहा है। सारी ही ऋतुओं के फल-फूल एक साथ खिल आए हैं।

मेरे तृतीय नेत्र के उन्मीलन में झलका :

तीनों लोक और तीनों काल अनंत मंडलाकार मेरे चारों ओर चक्रायमान हैं। अनादि से अनंत काल तक की सृष्टि एकाग्र मेरे चैतन्य की लौ में आलोकित है। आगत, विगत, अनागत की चौरासी लाख जीव-योनियां मेरी प्रत्यक्ष दृष्टि में परिभ्रमणशील हैं। हथेली पर रखे सहस्र पहलू स्फटिक में, जैसे त्रिलोक और त्रिकालवर्ती पदार्थ और प्राणि-मात्र के समस्त परिणमन का एकाग्र अवबोधन कर रहा हूं।

सूक्ष्मतम परमाणविक रज के असीम धूमिल प्रवाह देख रहा हूं। और उसी क्षण उनके भीतर से खुलते रौप्य और सुवर्ण रज के प्रवाह देख रहा हूं। कितनी सुनम्य और मृदु है शुद्ध द्रव्य की यह धारा। कितनी संवेदनशील, संस्पर्शशील। भावों के अनुसार यह रूपायित होती चली जाती है। असंख्यात रूप-आकार प्रकट होते हैं। प्राणियों की योनियां परंपरित होती हैं।

अपने आस-पास मंडलाकार घूमते देख रहा हूं, नाना जीव-गतियों के विश्व। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश के संधान। खनिज धातुओं के राज्य। वनस्पति राज्य। निगोदिया जीवों की नदियां। नाना जाति के तिर्यंच कीट, पतंग, पशु, पंखियों की उफनती नदियां। नरकों की यातना-नदियां। काल की महाधारा में मनुष्य का मृत्युंजयी पुरुषार्थ। उसके बहुआयामी संघर्ष। उसके जय-पराजय, विकास-प्रगति के अभियान। उसके लीला-खेल, प्रणय-प्यार, विद्या-विलास, कला-सृजन, अन्वेषण-आविष्कार। सौंदर्य, तेज और ज्ञान के महास्वप्न। उसके वैभव, ऐश्वर्य, ऋद्धियां, सिद्धियां। आत्मजय और विश्वजय का उसका परम पुरुषार्थ। काल के भाल पर अंकित उसकी लब्धियों के अमृत-लेख। सहस्राब्दियों व्यापी पुराण, इतिहास, काव्य, दर्शन, कला, शिल्प, स्थापत्य में व्यक्त, व्याप्त। अनादि से आगामी तक का शृंखलित इतिहास।

···यह सब मानो एक काल-परमाणु में एकाग्र देख रहा हूं। इस देखने में कोई आगा-पीछा नहीं है। समस्त को अपनी अंतर-ज्योति के एक मंडल में देख रहा हूं। अनुक्रमिक नहीं है मेरा यह दर्शन और ज्ञान। अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा के क्रम में नहीं देखता, नहीं जानता। सर्व को एक ही समय में एकाग्र, समग्र, संयुक्त देख-जान रहा हूं। जानने का कोई संकल्प नहीं। ज्ञाता और ज्ञेय का कोई विकल्प नहीं। ज्ञाता ज्ञेय में, और ज्ञेय ज्ञाता में सहज युगपत् प्रतिबिंबित हैं। दर्पण में दर्पण का अभिसार।' गहराव में गहराव का आलिंगन। ज्ञान का धारासार प्रवाह। ज्ञेय का धारासार प्रवाह। उनमें परस्पर संगुंफन, संक्रमण, अतिक्रमण, अंतःक्रमण। सचेतन भी, अचेतन भी, ज्ञानात्मक भी, अज्ञानात्मक भी। और उस टकराव में से क्षरित होती शुद्ध रस, आनंद, सौंदर्य की अक्षत धारा। कला और सृजन का निरंतर काम-कला-विलास। नाद, बिंदु और कला का अनवरत लीला-खेल।

मैं परमाणु से लगा कर ब्रह्मांड के हर अस्तित्व तक की भीतरिमा में झांक रहा हूं। एक तृण के कंप में भी अपने ज्ञान से संचरित हूं, और भूगर्भ से लगाकर मानुषोत्तर पर्वत के आरपार तक मेरा वीर्य अनायास अभिसारित है। हर वस्तु, हर व्यक्ति, हर सत्ता मेरे हृदय में अपना भेद खोल रही है। हर परमाणु के ज्योतिर्मय कक्ष में निरंतर चिद्विलास कर रहा हूं। मैं हर पत्ती और फूल की रगों में जीवन का रुधिर बन कर परिणमनशील हूं। मैं त्रिलोक और त्रिकाल के हर पदार्थ और आत्मा के साथ घर पर हूं—अभी और यहां। मैं उनके अत्यंत आत्मीय एकांत में हर समय उनके साथ हूं। उनके भाव और अभाव का समान संगी हूं। महाभाव में उनके साथ तदाकार हूं। महाज्ञान में उनका ज्ञाता-द्रष्टा साक्षी हूं। मैं एक ही समय में उनके साथ तद्रूप हूं, और फिर भी उनसे भिन्न, परे स्वयं आप हूं। असंपृक्त, एकमेव अखंड सत्ता-पुरुष। जिसके एक अंश में सब-कुछ परिणमनशील है, और स्वयं अंशी इनसे अतीत है।

हर पदार्थ के निरंतर उत्पाद, व्यय, ध्रुवत्व रूप परिणमन को अपनी हथेली में खिले कमल की तरह, उसके हर रगो-रेशे में नग्न, प्रत्यक्ष देख रहा हूं। मैं हर विनाश में प्रवाहित हूं, उत्पाद में ऊर्जायित हूं, फिर भी अपने स्वरूप के ध्रुव में अविचल हूं।

मैं सर्वगत हूं, और जगत के सारे पदार्थ मेरे आत्मगत हैं। क्योंकि मेरा आत्मगत ज्ञानमय है, और ये सारे पदार्थ मेरे ज्ञान के विषय हैं। त्रिकाल में व्याप्त अनंत द्रव्य, उनके पर्याय, उनके प्रवर्तन, मेरे ज्ञान के तदाकार प्रमेय हैं। मैं प्रमाता, प्रमेयगत होकर, उनकी अनुक्षण की प्रवृत्ति को देख रहा हूं, जी रहा हूं, भोग रहा हूं, जान रहा हूं। सर्व पदार्थ भगवान आत्मा में ही हैं। उनसे बाहर कहीं कुछ नहीं। क्योंकि ज्ञान से बाहर ज्ञेय कहां है?

विचित्र है मेरा यह स्व-रूप, स्व-भाव। मैं वस्तुओं और व्यक्तियों को, पदार्थों और आत्माओं को अपने चैतन्य में प्रतिक्षण आत्मसात् करता हूं। जैसे दीए की लौ में सब-कुछ प्रकाशित हो कर, उसमें आत्मसात् होता है। फिर भी मैं उन सब को अपने स्वात्म-प्रदेशों से अस्पर्श करता हुआ, अप्रविष्ट रह कर ही देखता-जानता, अनुभव करता हूं। लेकिन निगूढ़ है मेरी ज्ञानशक्ति का वैचित्र्य। क्योंकि जब मैं अपनी अंतर-ज्योति से समस्त ज्ञेयों के प्रदेशों में प्रवर्तन करता हूं, तो उन्हें आमूल उखाड़ कर जैसे अपने में ग्रास कर लेता हूं। तब मैं उनके साथ अपने संपूर्ण आत्म-प्रदेशों से संस्पर्शित होता हूं, उनके समस्त प्रदेशों में अपने समस्त प्रदेशों के साथ प्रविष्ट होता हूं।

हर आत्मा में मेरा अव्याबाध प्रवेश है। हर सत्ता मेरे संस्पर्श में आलिंगित है। अनुपल उनका सारा भीतर, मेरे सारे भीतर के साथ तन्मय है। एक अनंत निरंजन ज्योति के भीतर : एक निश्चल महामौन परिरंभण में। हवा और प्रकाश हर कमरे की खिड़कियों से आर-पार बह रहे हैं। कमरा उनमें है, वे कमरे में हैं। वे परस्पर अचूक परसित और प्रवेशित हैं। फिर भी वे अनुपल एक-दूसरे के आर-पार हो रहे हैं। एक-दूसरे को अतिक्रांत कर रहे हैं। क्योंकि सत्ता स्थिर कूटस्थ नहीं। कुछ भी अविचल नहीं। सकल चराचर निरंतर परिणमनशील है। प्रवाही है। नित-नव्यमान है। नित्य तरुण है, नित्य सुंदर है। यह सत्ता के स्वभाव में नहीं, कि कोई भी पारस्परिक स्पर्शन, आलिंगन, प्रवेशन अटल स्थिर हो रहे। क्योंकि सत्ता ध्रुव ही नहीं, उत्पाद भी है, विनाश भी है। इसी से तो सृष्टि संभव है, लीला संभव है। इसी से तो जगत-जीवन में निरंतर तत्त्व का वसंतोत्सव चल रहा है।

पूर्णराग की यह शाश्वत रासलीला वीतराग के ज्योतिर्मय कुंजों में ही संभव है। राधा को चिरकाल राधा रहना है, कृष्ण को चिरकाल कृष्ण रहना है। विरह भी है, मिलन भी है। द्वैत भी है, अद्वैत भी है। खंड भी है, अखंड भी है। नित्य भी है, अनित्य भी है। यह द्वैताद्वैत वस्तु के स्वरूप में ही बद्धमूल है। 'एकोऽहम् बहुस्याम्' न हो, तो जगत और जीवन की धारा अनंत में कैसे प्रवाहित रह सकती है!

× × ×

···तुम अपने निज कक्ष में रहो, मैं अपने निज कक्ष में रहूं। तुम अपने वातायन पर रहो, मैं अपने वातायन पर रहूं। दृष्टि का प्रणयाभिसार सतत चलता रहे। तुम मुझे और अधिक, और अधिक जानो। मैं तुम्हें और अधिक, और अधिक जानूं। फिर भी तुम्हारे निज कक्ष का एकांत अभंग रहे। मेरे निज कक्ष का एकांत अभंग रहे। और तभी तुम्हारा संपूर्ण निजत्व और एकांत, मेरे संपूर्ण निजत्व और एकांत में अनायास तन्मय हो रहे। अखंड लौ के साथ, अखंड लौ का परिरमण।

परस्पर को अधिकाधिक समझने और जानने में अनजाने ही एक-दूसरे के भीतर अनंत अवगाहन और अभिसरण। नहीं है इरादा, नहीं है इच्छा, कि ऐसा करूं। चाहने से वह संभव नहीं। अनचाहे ही वह अचूक संभव है। ज्ञान और संवेदन में अटूट युगल-लीला चल रही है। उसमें अनुक्षण हम सब नितांत अलग-अलग हैं, स्वयं आप हैं, एकाकी। और उसी एक समय में, हम सब एक-दूसरे में आलोकित, संस्पर्शित, संवेदित, संप्रवेशित हैं। कोई स्थिति, कोई भाव, कोई परिणमन एकांतिक नहीं। अनेकांतिक है। वस्तुस्थिति अनेकांतिक है, इसी से तो नाना रंग-रूपात्मक, नाना भाव-सौंदर्यात्मक सृष्टि-लीला संभव हो रही है। सत्ता का स्वभाव ही एक निगूढ़ वैचित्र्य से मंडित है। महाभाव, महाज्ञान और महासंवेदन का यह संयुक्त चेतना-स्तर कथन में नहीं सिमट सकता।

मेरे ज्ञान की लहरें, सर्व के नग्न परिणमन की लहरों में जब परस्पर संगुंफित होती हैं, उस निजानंद की रसलीनता को कैसे कहूं। ओ रे, त्रिलोक और त्रिकाल के सारे परमाणुओ, पदार्थो, नर-नारियो, हृदयो, आत्माओ, मेरी ओर देखो! मैं हूं तुम्हारे काम का चरम उत्कर्ष। तुम्हारे सारे काम, काम्य और कामिनियां मुझ में एकाग्र मूर्तिमान हुए हैं। वे मेरी चितवन के उन्मीलन में निरंतर तुम्हारे साथ क्रीड़ा कर रहे हैं।

त्रिलोक और त्रिकाल में तुम्हारे एक-एक परमाणु, इच्छा, आकार, क्रिया, भाव-संवेदन के साथ मेरा अविराम संप्रेषण और संवाद चल रहा है।

स्वर्गों की कल्पकाम शैयाओं में मैं ही तुम्हारा संभोग हूं। तिर्यंच योनियों और नरकों के यातना-कुंडों में, जहां तुम्हारी मूक यंत्रणाओं का, तुम्हारी अबूझ घुटनों का कोई संगी नहीं, सहभागी नहीं, साक्षी नहीं—वहां मैं अचूक तुम्हारा संगी हूं। अनुक्षण तुम्हें अपने ज्ञानालिंगन में लेकर, मैं तुम्हारी समग्र वेदना को निरंतर अनुभव कर रहा हूं। मेरा चिदेश, मेरे चिद्भाव में, अपनी चेतना से निरंतर क्रियाशील रह कर तुम्हारे हर कंपन, हर परिणमन के साथ, अनुकंपित है, अनुपरिणमनशील है। मैं तुम से नितांत भिन्न हूं : मैं तुम से नितांत अभिन्न हूं, ज्ञान के इस असंख्य-आयामी बिल्लौरी-कक्ष में।

ओ मेरे युगतीर्थ के लोगो! तुम्हारे संकटों, संत्रासों, संघर्षों को, तुम्हारे युद्धों और विनाशों को, मैं अपने हृदय-कमल की इस ज्वाला और ज्योति में सतत देख रहा हूं, संवेदित कर रहा हूं, जान रहा हूं। मेरी यह धारासार दर्शनज्ञानात्मक सहानुभूति और प्रीति, तुम्हारे साथ इतनी तदाकार और तद्रूप है, इतनी तन्मय और मर्मगामी है, कि मैं तुम्हारे भीतर-बाहर को समग्र एकाग्र अपनी आत्मा में ज्यों-का-त्यों अनुभव कर रहा हूं। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु।'

मेरा यह सर्वात्मभावी संवेदन और सर्वव्यापी ज्ञान ही अपनी अजस्रता और अविरलता में, कब कोई वैश्विक क्रिया बन जाता है, सो मेरे सिवाय और कौन जान सकता है।···

ओ मेरी सर्वकालीन सार्वलौकिक प्रजाओ! मेरे लोकालोक प्रकाशी प्रभामंडल को एकटक निहारो और जानो कि उसमें तुम कहां हो, विश्व कहां है; तुम्हारे और विश्व के साथ मेरा क्या संबंध है? जानो कि तुम्हारे वर्तमान विश्व-प्रपंच में मैं कहां घटित हूं, कहां स्पंदित हूं, कहां संदर्भित और संबंधित हूं।···अपनी अंतश्चेतना को अपनी तीव्रतम वेदना की क्षुरधार से खरोंचो और अपने उस जख्म में झांको, और स्वयं ही जानो कि मैं उसमें कहीं संवेदित और सक्रिय हूं या नहीं? अपने समग्र आत्म से मेरे समग्र आत्म में संस्पर्शित होओ, संगुंफित होओ, और ठीक-ठीक जानो कि तुम कौन हो, मैं कौन हूं, यह विश्व क्या है, इसमें हमारा पारस्परिक उपग्रह, उत्तरदायित्व और संबंध क्या है?···

× × ×

कितनी लोचभरी, लचीली, लालित्यभरी, सुनम्या और लीलामयी है यह सत्ता। कितना सहज सुलभ, सुप्राप्त है मुझे हर परमाणु, हर पदार्थ, हर प्राणी, हर हृदय, हर आत्मा। कितना प्रत्यक्ष है मुझे उनका क्षण-अनुक्षण का परिणमन। मानो कि सर्वत्र मेरा ही आत्म-रमण हो, मेरा ही हृदय-स्पंदन हो।

ऐसी सुनम्या, मार्दवी, लचीली, ललितांगी है यह सत्ता कुमारी, कि मेरे हर समय के हर भाव के साथ यह तद्रूप तन्मय होती है, भावित होती है। मेरे मनचाहे रूपों में, द्रव्यायित और परिणमित होती है। जिस रूप में इसे ध्याता हूं, भाता हूं, चाहता हूं, खोजता हूं, उसी रूप में यह आकृत,

भावित, संवेदित होकर तद्रूप हो जाती है। इस संविद्रूपा महामाया के मर्म को न्याय के नयों और तर्क के तोड़ों से नहीं अवगाहा जा सकता। केवल अनुभवगम्य है, इस सुनम्या का पूर्णालिंगन। विचार, वितर्क, विश्लेषण के क्रमिक, खंड-खंड ज्ञान से वह गम्य नहीं। पूर्ण ज्ञान और पूर्ण संवेदन की एकात्मिक लौ में ही उसे अनुभूत किया जा सकता है।

आत्म-संवेदन ही विश्व-संवेदन हो गया है। विश्व-संवेदन ही आत्म-संवेदन हो गया है। आत्मबोध के बिना विश्वबोध संभव नहीं। विश्वबोध के बिना आत्मबोध संभव नहीं।···

ओ मेरे युग-तीर्थ के लोगो! शास्त्र पढ़ कर सत्ता-स्वरूप और आत्म-स्वरूप को नहीं जान सकोगे। अपने नितांत स्वतंत्र, कुंवारे संवेदन और अपने नितांत निजी वैयक्तिक आत्म-संघर्ष से गुजर कर ही आत्मा और सत्ता की शाश्वती सती का पाणिग्रहण तुम कर सकोगे : उसका पूर्णालिंगन पा सकोगे।

न्याय और तर्क के सिद्धांत रच कर, विज्ञान-शाला की द्राविणी में उसे अनेक रसायनों द्वारा विश्लेषित करके, गणित के बीज, अंक और रेखा में उसे गिन और माप कर, तुम उसका किंचित् भी अनुमान न पा सकोगे।

शास्त्रों और ज्ञान-विज्ञानों ने आत्मा की सती-सुंदरी को सदा ही व्यभिचारित और लहूलुहान किया है। अरे उसे कसो नहीं, छेदो नहीं, भेदो नहीं, बांधो नहीं, छिन्न-भिन्न न करो। निःशेष समर्पित हो जाओ उसकी गोद में। और वह तुम्हें अपने आंचल में ले कर, अपना गोपनतम सत्य और सौंदर्य तुम्हारे भीतर अनायास आलोकित कर देगी।

···मैं आत्मालिंगन के उसी उत्संग में से बोल रहा हूं।

× × ×

मैं सर्वार्थ-सिद्धि के अनुत्तर विमान की रेलिंग पर खड़ा हूं, और मेरे मस्तक पर प्राग्भार पृथ्वी की अर्द्ध-चंद्राकार सिद्ध-शिला जाज्वल्यमान है। वही मेरा अंतिम घर है। उसमें अनंत कोटि सिद्धात्माएं अपने विशुद्ध ज्ञान-शरीर में, स्वप्रतिष्ठित हैं। अपने आत्यंतिक निजत्व में, वे नित्य घर पर हैं। और उसी क्षण वे अपने ज्ञान की अनंत ज्योति से त्रिलोक और त्रिकाल के हर परिणमन में रमण कर रही हैं।

···और उसी एक कालांश में मैं लोक के केंद्र में शाश्वत विद्यमान जंबूवृक्ष के तले आसीन हूं। और उसी एक अविभक्त मुहूर्त में, लोक को घेर कर अवकाश में पड़े तीन वात-वलयों की संधियों में खेल रहा हूं। मेरे एक ओर है सत्ता का अनंतगामी चिर-चंचल प्रसार। मेरी दूसरी ओर है सत्ताहीन अलोकाकाश का अंधकारों में फैला विस्तार। 'हूं' और 'नहीं हूं' की इस खतरनाक कगार पर एकाकी अविचल उपस्थित हूं।

और देख रहा हूं, एकबारगी ही सृष्टि की अविराम क्रियाशील कर्मशाला की सारी भीतरिमाओं को। जो मानो उलट कर मेरी पद्मासनासीन हथेलियों में आ पड़ी हैं।···उनमें परमाणुओं का धारासार प्रवाह। उस प्रवाह में, परमाणु अनायास जाने कब असंख्य स्कंधों में अनुबंधित हो रहे हैं। जीवों के अकारण क्षण-क्षण बदलते ऊंचे-नीचे भावों के अनुरूप वे स्कंध अकल्पनीय प्राणि-रूपों में पिंडित हो रहे हैं। एक अनिर्वच संधि के दोनों ओर ये परमाणु और स्कंध कहीं जीव-योनियों उर्वरित हो रहे हैं, कहीं पौद्गलिक आकार-प्रकारों में रूपायित हो रहे हैं। जीव और पुद्गल, चेतन और अचेतन का भेद-विज्ञान यहां निर्णायक नहीं। चर और अचर, चेतन और अचेतन के बीच यहां जो निगूढ़ संभोग कालातीत भाव से चल रहा है, वह मात्र कैवल्य-ज्योति द्वारा गम्य है, केवल अनुभव्य है, कथ्य नहीं। उसका कथन-मात्र अंततः मिथ्यादर्शन है।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का जो पंचीकरण और विसर्जन तात्त्विक आकाश में सतत चल रहा है, वह मेरी ज्ञान-चेतना की एक तरंग-मात्र में समयातीत घटित हो रहा है। परमाणु से स्कंध, और स्कंध से विराट चराचर पिंडों तक का जो सर्जन और विसर्जन सतत संसरायमान है, उसे अपनी ही देह की प्रत्येक परमाणु-संधि में प्रत्यक्ष देख, जान और अनुभव कर रहा हूं। दो परमाणुओं के स्कंधित होने के बीच का जो अदृश्य-अवकाश है, वहां मैं उपस्थित हूं। स्कंध से पिंडीकरण के बीच का जो अकल्प्य अंतराल है, वहां मैं उपस्थित हूं। नाना भावों के अनुरूप कर्म-रज के रक्त में रूपांतरित होने की जो धारणातीत प्रक्रिया चल रही है, उसमें मैं निरंतर खेल रहा हूं। रक्त के मांस में घनीकरण और मांस के अवयवों में रूपायन के बीच की जो गोपन संधियां हैं, उनमें मैं सतत प्रवर्तनशील हूं। मांस के अस्थि-बंध होने तक के बीच का जो गुह्य संसार है, उसकी हर परिणमन-परंपरा में मैं अनायास संक्रमणशील हूं। अस्थियों के मज्जायित होने के बीच का जो मंथन है, उसमें मैं चक्रायमान हूं। और मज्जा के देहाकृत होने तक के बीच की जो अनवबोध्य रिक्तता है, उसमें मैं एक अनवरत सभरता की तरह ओतप्रोत हूं।

ओ त्रिलोक और त्रिकाल के सारे प्राणियो और मानवो! तुम्हारी एक सांस और दूसरी सांस के बीच का जो अभेद्य अवकाश है, उसमें केवल मैं ही हूं। तुम्हारे अंध-मैथुन और प्रणयालिंगन में जो व्याकुल सांसों का संकुलन, संकर्षण और संघर्षण है, उसमें मैं अविचल उपस्थित हूं। तुम्हारे भावों और उच्छ्वासों का जो तुमुल टकराव और उलझाव है, उसके बीच मैं सहज स्पंदित हूं। फिर उनके बीच का जो सहज सुलझाव और संवाद है, वह भी मैं ही हूं। तुम्हारे संभोगों में, देह और देह, आत्मा और आत्मा के एकीकृत होने की जो निष्फल स्पर्शाकुलता है, प्रवेशाकुलता है, वह भी मैं ही हूं। ओ नर-नारियो! तुम्हारे रज और वीर्य के संघात, सम्मिश्रण और गर्भाधान के बीच जो आप्लावन है, वह मेरे ज्ञान की एक तरंग-मात्र है, और मैं उससे तत्काल उत्तीर्ण नितांत आत्मस्थ हूं।

घृत-कुंभित निगोदिया जीवों के एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते अंध संसार का मैं अनवरत संगी और साक्षी हूं। नरकों की अकल्प्य दुख-राशि में आलोड़ित, सर्वकाल के जीवों की असंभव में पछाड़ खाती चेतना के लिए मैं भव्यता और संभावना का शाश्वत सूर्योदयी किनारा हूं। तुम्हारी चरम निराशा के अंधकार में, मैं आशा का अकंपमान एकमेव दीपक हूं।

अखंड काल-परमाणु में, इस अनंतकाल व्यापी सृष्टि-लीला के भीतर मैं अपने ज्ञान-शरीर के साथ निरंतर खेल रहा हूं। इस सब में सर्वत्र, सर्वकाल उपस्थित, उपविष्ट, संस्पर्शित, संप्रवेशित होकर भी, उसी एक कालांश में इस सब से असंपृक्त, मैं केवल स्वयं आप हूं। सर्वत्र, सर्व में रमणशील हो कर भी, तत्काल सर्वार्थ-सिद्धि के अनुत्तर विमान की इस रेलिंग पर अविचल खड़ा हूं। ठीक इसी क्षण लोक के केंद्रस्थ जंबूवृक्ष तले अकंप बैठा हूं। और तभी लोकाकाश और अलोकाकाश के बीच के तीन वातवालयों की संधि पर, निर्वात दीपशिखा की तरह, निस्तब्ध खड़ा हूं। सर्व का एकमेव, अक्षुण्ण, नित्य उपस्थित साक्षी, ज्ञाता, द्रष्टा मात्र।

स्रष्टा होकर भी, असृष्टा। क्रियाशील हो कर भी, अक्रियाशील। कर्ता भी अकर्ता भी। कोई किसी का कर्ता नहीं, कोई किसी का अकर्ता नहीं। कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान की सारी विभक्तियों के बीच अविभक्त एकाग्र मैं। सब केवल अपने-अपने कर्ता, धर्ता, हर्ता हैं। फिर भी परस्पर अभिग्रहीत, उपग्रहीत, परस्पर में संक्रमित। अंततः अपने ही में निष्क्रांत। मैं, केवल मैं, संसार भी, निर्वाण भी। सात तत्त्व और नौ पदार्थ, सब केवल इस आत्मानुभूति में आत्मसात् हैं। कहीं और कोई नहीं। बस, केवल हूं। 'हूं' और 'नहीं हूं' से परे, एकमेव उपस्थित।

× × ×

···अपने शरीर के आर-पार देख रहा हूं। धूल-माटी, मांस-मज्जा का वह मेरा भारिल शरीर जाने कब कहां झड़ गया। मेरा अन्नमय कोश धान्य-खेतों की उर्वरा माटी में बिला गया है। मेरा प्राणमय कोश बिखर कर हवा में व्याप गया है, जिस में प्राणि-मात्र सांस ले रहे हैं। मेरी मानसिक देह यों अपने ही भीतर अपसारित हो गई है, जैसे ऊर्णनाभ ने अपने ही फैलाए तंतुजाल को अपने में वापस खींच लिया हो। मेरा वह एक मन असंख्य होकर, सर्व के मन-मनांतरों में अभिसार करने चला गया है। उसकी कल्प-शक्ति में से हजारों नव-नूतन आकारों के विश्व रूपायित हो रहे हैं।···

···और अब देख रहा हूं, अपने विज्ञानमय शरीर को। इतना निश्चल है यह, कि इसमें लोक के सारे शरीरों की गतिविधि एकाग्र आश्लेषित अनुभव होती है। अंतर्भावित। इतना निरावेग और वीतराग है यह, इतना संपूर्ण समर्पित, कि इस में सारे ही तन-मनों की सूक्ष्मतम संवेदनाएं अनायास स्पंदित हैं, संवेदित हैं, संस्पर्शित हैं। इसी से मानो यह एक श्वेत अग्नि का स्तंभित पुंज हो कर रह गया है। इसमें से भीतर के ज्योतिर्मय शरीर एक-एक कर खुलते दिखाई पड़ते हैं।···रक्त ज्योति के कोश में से श्वेत ज्योति का शरीर प्रकट हो आया है। उस श्वेत ज्योति की भास्वर कंचुकी में से कृष्ण ज्योति-पुरुष आविर्भूत हो गए हैं।···

···और सहसा ही उनके हृदय-कमल में से एक नीलेश्वरी ज्योतिर्-कन्या उठ आई है। अपने उरोजों के बीच के अंतरिक्ष में वह अधर धारण किए है, मेरे इस प्रस्तुत तेजल शरीर को।···अर्द्धपारदर्श रोशनी का एक नीहारिल परदा सहसा ही हट गया। और भीतर तरल स्फटिक के आभा-कोश में, अपने शरीर के एक-एक अवयव, उसकी क्रियाओं और परिणमनों को प्रत्यक्ष देख रहा हूं। पराग-सी मज्जा के आवरण में अत्यंत लचीली अस्थियों का लरजता-सा ढांचा। असंख्य शाखा-जाल वाले स्नायु-मंडल की शिराओं में अविरल प्रवाहित रक्त : दूध की अनगिन नदियों का धारा-संगम। अपनी बहत्तर हजार नाड़ियों में स्पंदित श्वास की सारी गतिविधियों को प्रत्यक्ष देख रहा हूं। हृदय के पद्माभ अंतःपुर में, नील ज्योतिर्मय शैया में रमण करती अपनी आत्मा की सती-सुंदरी का प्रत्यक्ष साक्षात् कर रहा हूं। सम्मुख होते ही तत्काल उसकी सुनग्ना प्रभा में उत्संगित हो गया हूं।···

···एक महावीर्य का हिल्लोलन। और उसके प्रवाह में प्रबल ओज से अपने तेजसिक मांस-बंध का भेदन कर, मैं त्रिकालीन इतिहास की नाड़ियों में संचरित हो गया हूं। उसके सारे संघर्षों, युद्धों, संत्रासों, रक्तपातों के बीच अडिग पैरों चल रहा हूं। और मेरी शिराओं की रक्ताणु-दीवारों में सारा इतिहास-प्रवाह एक जीवंत शिल्प की तरह उत्कीर्णित है। ऐसे दुर्दांत तेज का विस्फोट मेरी धमनियों में सम्हला हुआ है, कि चाहूं तो इसी क्षण समस्त विकृत और विसंवादी इतिहास को ध्वस्त कर सकता हूं। और निमिष-मात्र में, एक सुसंवादी नूतन विश्व को अभी और यहां उपस्थित कर सकता हूं।···

···लेकिन नहीं, अर्हत् तत्त्वों के स्वतंत्र स्वभाव का अपहरण नहीं करते। उन्होंने हर तत्त्व को इतना स्वतंत्र रखा है कि वह अपने-आप में एक पूरा विश्व है, इतिहास है। वे सारे विश्व और इतिहास आपस में टकराते हैं। ग्रह-तारा मंडलों में घर्षण होता है। सृष्टि में प्रलय और उदय का नाटक अटूट चलता है।···लेकिन जिनेश्वर उसमें हस्तक्षेप नहीं करते।

जिनेश्वरों का अनंत वीर्य, अपने आत्म के ज्योतिर्लिंग में अविकंप, अपने ही स्वरूप में परिणमनशील रहता है। वे अक्षर पुरुष कभी क्षरित नहीं होते। उनका अक्षरित रेतस् अपनी अविकंपता में से ही शक्ति के ऐसे विद्युत्-समुद्र प्रवाहित करता है, कि वे बिना किसी संकल्प या कर्तृत्व के भी समग्र सत्ता में खामोश अतिक्रांतियां और रूपांतर उपस्थित कर देते हैं। अर्हतों के उस अनंत वीर्य को मैं अपने हृदय के पद्म में निष्कंप पारद की तरह धारण किए हूं।

× × ×

···वस्तुओं का दर्शन मेरा अनंत हो गया है। आंख से परे, हर वस्तु को उसके अनंत परिणमन में देख रहा हूं। उसके सारे द्रव्य-पर्यायों को एकाग्र यहां, अभी, इस सामने के उजाले की तरह देख रहा हूं। और देखते ही देखते, भीतर तमाम चीजें पूरंपूर रोशन हो उठती हैं। हर चीज अपने मूल में रोशनी के एक बीज या तरंग की तरह सामने आती है। और मेरी चेतना के स्फटिक जल में जैसे नाना रंगिम मणियों की मंजूषा खुल पड़ती है। मणियां, जो जीवन के ऊर्जा-बीज हैं।

···देखना और जानना एक युगपत् क्रिया में हो रहा है। सूर्योदय हो रहा है, और उसी क्षण उसके विराट रश्मि-बिंब लोकालोक पर व्याप रहे हैं। अनंत ज्ञान के इस वातायन पर सौंदर्य, प्रीति और आनंद का पूर्ण संभोग चल रहा है। काव्य और कलाएं मेरे भीतर से नाना-रंगी रोशनी के फौवारों से फूट रहे हैं।

प्रत्यक्ष है मेरा यह देखना, जानना, मिलना। शरीर के दुर्ग और इंद्रियों की खिड़कियों का यह कायल नहीं। सारी इंद्रियां एक ही मंडलाकार वातायन में खुल गई हैं। एक ही ज्योतिर्मय नेत्र में एकीभूत हो गई हैं। रूप ही रंग हो गया है, रंग ही स्पर्श हो गया है, स्पर्श ही गंध हो गया है, गंध ही ध्वनि हो गई है। और ध्वनि ही मेरा चिदाकाश हो कर छा गई है। जिसमें मैं उन्मुक्त हंस की तरह तैरता रहता हूं।

वस्तु के और मेरे बीच के संवाद और संप्रेषण के लिए कोई माध्यम अब जरूरी नहीं रह गया है। अपने नग्न ज्ञान-शरीर से, वस्तु के नग्न परिणमन के साथ सीधा टकरा रहा हूं। समुद्र अपने-आप को ही तैर कर पार कर रहा है। बिल्लौर की भीतरी तहों में रंगों का तूफान उठा है। बिल्लौर अपने हजारों पहलुओं में उन रंगों को चमका कर भी, अपनी उज्ज्वलता में सदा कुंवारा है। दो पूर्ण नग्नताओं का यह एक वीतराग, पूर्णराग परिरंभण है।

इस परिपूर्ण संचेतना और संवेदना में निराकुल सुख की कैसी शांत नदी अविरल बह रही है। इस नदी के तट पर विचरते अनुभव हो रहा है कि मेरी इंद्रियां ही स्वयं अपना विषय बन गई हैं। वे स्वयं ही अपना आत्म-संभोग हो उठी हैं। मेरा स्पर्श स्वयं ही अपना अगाध मार्दव हो गया है। मैं आप अपने में ही अनायास एक अथाह कोमलता में लालित हूं। मेरी रसना में ही अमृत के सोते प्लवित हो रहे हैं। मेरी नासिका स्वयं मलयाचल का चंदनवन हो गई है। मेरी आंखें ही रंग, रूप, लावण्य, सौंदर्य, यौवन का अपार समुद्र हो गई हैं। मेरे कान ही स्वयं निखिल के नाड़ी-मंडल की वीणा बन कर झंकृत हैं। अपनी सुषुम्ना के लय-कक्ष में अनंत रमणी के उत्संग में निराकुल भाव से सुखासीन हूं। महासुख-कमल की इस शैया पर तीनों काल और तीनों लोक के सारे सौंदर्यों में मैं निर्बाध विलास कर रहा हूं।

इस विलास-कक्ष में अपने अनादि, अनंत काल-व्यापी सारे ही जीवनों और जन्मांतरों को एक साथ ही, संपूर्ण जी रहा हूं। अभी और यहां।···पुरुरवा भील के कंधे पर काली अभी और यहां झूल रही है।···तीर्थंकर ऋषभदेव का समवसरण अभी और यहां मुझ में जाज्वल्यमान है। मरीचि के आगे नमित योगीश्वर भरत चक्रवर्ती का संवाद अभी और यहां मेरे साथ सीधा चल रहा है। त्रिपृष्ठ वासुदेव और प्रियमित्र चक्रवर्ती के साथ अभी और यहां

अपनी इस स्फटिक की छत पर विलस रहा हूं। सिंहगिरि पर्वत के गंगा-तटवर्ती कांतार में वह खूंख्वार अष्टापद, अभी इसी क्षण मेरे भीतर अनुकंपा से भर आया है। और उसकी करुणा, मुदिता, मैत्री को अक्षुण्ण अभी, यहां अनुभव कर रहा हूं।···अच्युत स्वर्ग के अप्सरा-काननों में, अच्युतेंद्र मैं, अभी और यहां लावण्य के सरोवरों में आलोड़ित हो रहा हूं।···

···और देवानंदा, ऋषभ, त्रिशला, सिद्धार्थ, विंध्याचल की काली, शालवन की शालिनी, सारे समकालीन विश्व की चुनिंदा सुंदरियां, चंदना, चेलना, चेटक बापू, आम्रपाली, वैशाली का जन-जन, वैनतेयी, सोमेश्वर, मुझ से संपर्कित हर सत्ता, मेरी यात्राओं के सारे प्रदेश, सब मेरे साथ अभी और यहां, घर पर हैं। मैं उनके साथ प्रतिपल घर पर हूं। नित्य उनके साथ उपस्थित हूं। दुर्दांत समुद्रों के प्रवाहों पर, आधी रातों जूझती अन्वेषक मल्लाहों की नावों पर, मैं पाल बन कर तना हुआ हूं। ज्ञात-अज्ञात सारी ही पृथ्वियों और लोकों के, सारे ही द्वीपों और देशों के, दूर-दूर चमकते दीयों वाले घरों में, वहां के सारे नर-नारीजन के साथ, हर क्षण घर पर हूं। उनके सारे सुख-दुखों, विरह-व्यथाओं, कष्ट-संतापों में, उनके साथ मैं अभी और यहां घर पर हूं। उनके सारे ही प्रणयालापों में, मैं इसी क्षण सहभागी हूं। उनके सारे ही विरहाघातों में मैं अभी और यहां स्पंदित हूं।···और फिर भी इसी एक कालाणु में मैं अपने स्फटिक के अंतःपुर में, अपनी सुख-सेज में अक्षुण्ण निरावेग शयित हूं।

विरह, विषाद, अवसाद, व्याकुलता के वर्तुल विलुप्त हो गए हैं। मेरे इस निज कक्ष में मेरी शैया के सिरहाने सदा सूर्योदय हो रहा है, और मेरे पायताने सदा सूर्यास्त हो रहा है। उदय और अवसान के तकियों पर एक साथ सर ढाले लेटा हूं। विराट प्रलय की वीणा पर उदय का वसंतराग संगीत निरंतर बज रहा है।

दूरियां अपने छोरों पर सिरा कर, मेरे पास आ खड़ी हुई हैं। दिशाएं अंगूरों-सी एक हीरे की तश्तरी में मेरे सामने पड़ी हैं। मैं अपने क्षीरसागर की शेष-शैया पर निराकुल शयित हूं। मेरी आत्मा की कमला मेरे पैरों को गोदी में लिए उन्हें सहला रही है। उसकी संवेदनाकुलता के आंसू मेरे हृदय पर ढलक आए हैं।···और सकल चराचर में उसी क्षण मैं परम संभोग में लीन हो गया हूं।···

···सहसा ही मेरा आत्मलीन काम, एक महाकाम में हिल्लोलित हो उठा। विश्व की असंख्य आत्माओं की करुणा मुझे खींच रही है। समस्त नभचर, जलचर, थलचर लोक मुझे पुकार रहा है। महाकाल की अज्ञात समुद्रवेला में, नूतन सृजन की सारंगी ध्रुपद का आलाप ले रही है।

और देख रहा हूं कि—

विशुद्ध सत्ता के अनंत समुद्र के भीतर अचानक एक गंभीर कंपन हुआ। उसकी शांत सतह पर अपूर्व नव्य परिणमन की ऊर्मियां बेमालूम सरसराने लगीं।

···और लो, वह महासमुद्र स्वयं मूर्तिमान होकर, अपने निःसीम प्रसार पर चल रहा है। प्रकृति विराट पुरुष को अपने वक्ष पर वहन कर रही है।

विपुलाचल के शिखर पर से, एक चंपई पुंडरीक की कुमारी पृथ्वी उसके समक्ष तैर आई है। और समुद्र-पुरुष ने सहज ही उस पर पग धारण किया।···

× × ×

···महीनों की महासमाधि से बाहर निकल आया हूं। जीवन्मुक्त हो कर, जीवन-जगत में सदा के लिए लौट आया हूं। साढ़े बारह वर्ष-व्यापी महामौन, वाणी के झरनों में फूट पड़ने को कसमसा उठा है। संवाद और संप्रेषण के नए आकाश दिगंतों में खुल रहे हैं।

त्रैलोक्येश्वर का अनहद नाद अंतरिक्षों में विप्लव के घोष की तरह घहरा रहा है।

सकल चराचर का वल्लभ, उनके पास घर लौट आया है। ❖

यह सच है कि अपनी योजनाओं और उन्हें कार्यान्वित करने के तौर-तरीकों की असली परीक्षा तब ही होती है, जब सामने दिखाई देने वाला क्षितिज सबसे ज्यादा अंधकारमय हो।

—महात्मा गांधी

नेमिचन्द्र जैन की कविताएं

•

क्या है सच

क्या है सच
क्या वही जो दीखता है?
जैसे, आसमान का नीलापन
अथाह
बारिश की हरियाली
लुभावनी
क्या वही जो होता है अनुभव
लगातार दिन-रात
जैसे बुढ़ापे के साथ-साथ
बढ़ती बेबसी अशक्तता
जोड़-जोड़ ढीला
मानो अलग होता
क्या वही सच है

या सच है वह भी, जो
है अगोचर
इंद्रियों की पहुंच के बाहर
जैसे शून्य अंतरिक्ष का
दुर्गम दुर्बोध
लहलहाते अंकुर के बीज में ही
मुद्रित चरम विघटन
अदृश्य
पर अटल अनिवार्य

और वह भी जो
भगाए लिए जाता है
काया की सीमा को लांघ
जन्म-जरा-मरण की
सरहद के
अस्तित्व के भी परे
क्या वह सच नहीं है?

क्या है सच?

•

व्याख्या

एक दिन कहा गया था
दुनिया की व्याख्या बहुत हो चुकी
जरूरत उसे बदलने की है
तब से लगातार
बदला जा रहा है
दुनिया को
बदली है अपने-आप भी
पर क्या अब यह नहीं लगता
कि और बदलने से पहले
कुछ
व्याख्या की जरूरत है?

•

ऐसा क्या देखा

ऐसा क्या देखा
कि लगा
बारिश हो गई
अचानक ही
और फिर धूल से लदे
मटमैले
पत्ते सब
आत्मा के
धुल गए
बंद सभी रोशनदान
खुल गए।

•

जो हम नहीं हैं

हम वही हैं जो हम नहीं हैं।
भाव जो कभी मूर्त न हुए
शब्द जो कभी कहे नहीं गए
जीने की व्यथा में डूबे हुए स्वर
जो ध्वनित नहीं हो पाए
राग नहीं बने
जीवन के अचीन्हे सीमांत के
चरम क्षण
होने न होने के
अपनी अनंतता में ठहरे रहे
निरंतर अपनी अतींद्रिय संपूर्णता में
जीते रहे
पर बीते नहीं भोगे नहीं गए...

आकार-रूप-हीन आघात
जो बस सहे ही गए
अनजाने-अनचाहे
आंखों की कोरों में
उमड़े हुए आंसू-से अनदीखे
अटके ही रहे झरे नहीं
वही हैं हम
जो नहीं हैं। ❖❖

शीलन

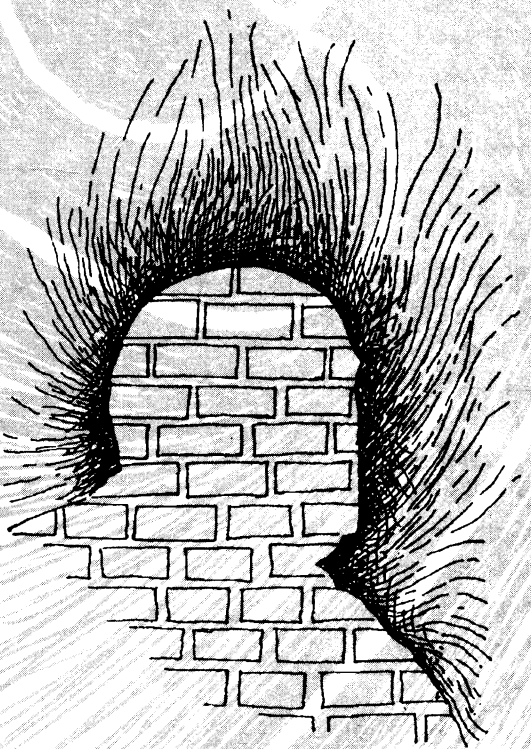

ॐ जनं बिभ्रती बहुधा विवासं
नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रधारा द्रविणस्य मे दुहां
ध्रुवेव धेनुः अनपस्फुरंती।।

—अथर्ववेद

हम उस भूदेवी के कृपापात्र बनें जो जीवन-समृद्धि की सहस्रधारा बहाने वाली और कभी न सूखने वाली कामधेनु है। यह पृथ्वी नाना प्रकार की मानव जाति को, धर्मों को तथा प्राणियों को पनपने के लिए एक आधार देती है। उसके कारण हम सब नाना प्रकार के होते हुए भी एक हैं, एक घर के सदस्य हैं।

—जीवन मंथन से

जिसे ईश्वर के अस्तित्व से इनकार करना हो, उसे इनकार करने का अधिकार है, क्योंकि वह तो दयालु है, रहीम है, रहमान है। वह कोई मिट्टी का बना हुआ राजा तो है नहीं कि उसे अपनी सत्ता स्वीकार कराने के लिए सिपाही रखने पड़ें। वह तो हम लोगों को स्वतंत्रता देता है, फिर भी केवल अपनी दया के बल से हम लोगों का शासन करता है। लेकिन हम लोगों में से यदि कोई उसका शासन नहीं मानता तो भी वह कहता है : 'खुशी से मेरा शासन न मानो; मेरा सूर्य तो तुम्हें भी रोशनी देगा, मेरा मेघ तो तुम्हारे लिए भी पानी बरसाएगा। मुझे अपनी सत्ता चलाने के लिए तुम पर बलात्कार करने की कोई आवश्यकता नहीं।' ऐसे ईश्वर की सत्ता को वह भले ही न माने जो नादान है; लेकिन मैं उसे मानने वाले करोड़ों बुद्धिमानों में से एक हूं, इसलिए उसको सहस्र बार प्रणाम करने पर भी नहीं थकता।

❑❑

तीन प्रश्न

❑ मो. क. गांधी ❑

एक सज्जन ने बड़े ही विनम्र भाव से तीन प्रश्न हिंदी में पूछे हैं। ये प्रश्न हैं—

(1) वर्णभेद आप जन्मजात मानते हैं। किंतु यह भी आपकी मान्यता है कि किसी आदमी को कोई भी कर्म करने में हर्ज नहीं तथा किसी भी आदमी में ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यादि द्विजों के गुण आ सकते हैं। ऐसी हालत में वर्ण की पदवी की क्या जरूरत है? सिर्फ जन्म से नाम का आरोपण क्यों? जन्म को इतना महत्त्व क्यों?

(2) आप अद्वैतवाद मानते हैं और यह भी कहते हैं कि सृष्टि अनादि, अनंत तथा सत्य है। अद्वैतवाद सृष्टि के अस्तित्व से इनकार करता है। आप द्वैतवादी भी नहीं, क्योंकि आप जीवात्मा के स्वतंत्र कर्तृत्व पर श्रद्धा रखते हैं। इसलिए आपको अनेकांतवादी या स्याद्वादी कहना ठीक क्यों नहीं है?

(3) आपने कई बार लिखा है कि ईश्वर के मायने देहरहित, वीतरागी, स्वतंत्र और उपाधिरहित शुद्धात्मा है; अर्थात् ईश्वर ने सृष्टि नहीं पैदा की और वह पाप-पुण्य का निर्णय करने भी नहीं बैठता। तो भी आप ईश्वरेच्छा की बात बार-बार करते ही रहते हैं। उपाधिरहित ईश्वर को इच्छा कैसे हो सकती है और उसकी इच्छा के अधीन आप कैसे हो सकते हैं? आपकी आत्मा जो-कुछ करना चाहती है, कर सकती है। यदि आत्मा ऐसा नहीं कर पाती तो उसका पूर्वसंचित कर्म ही इसका कारण है, न कि ईश्वर। आप सत्याग्रही होने के कारण सिर्फ मूढ़ात्माओं को समझाने के लिए यह असत्य बात तो नहीं कहते होंगे। फिर यह ईश्वरेच्छा का दैववाद क्यों?

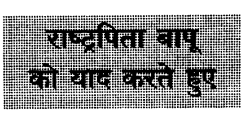

(1) मेरा वर्णभेद का मानना सृष्टि के नियमों का समर्थन करना है। हम अपने माता-पिता के कुछ गुण-दोष जन्म से ही विरासत में प्राप्त करते हैं। मनुष्य योनि में मनुष्य ही पैदा होते हैं, इसे जन्मानुसार वर्ण का ही सूचक समझिए। हम जन्मतः प्राप्त गुण-दोषों में थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर सकते हैं; इस दृष्टि से कर्म को भी स्थान है। एक ही जन्म में पूर्वजन्म में अर्जित संस्कारों को सर्वथा मिटा देना शक्य नहीं है। इस अनुभव को देखते हुए तो जो जन्म से ब्राह्मण है उसे ब्राह्मण मानने में ही सब प्रकार से लाभ है। विपरीत कर्म करने से ब्राह्मण इसी जन्म में शूद्र बन जाए और संसार उसे फिर भी ब्राह्मण मानता जाए तो इससे संसार की कोई हानि नहीं। यह सच है कि आज वर्ण व्यवस्था का अर्थ उलटा हो रहा है और इसीलिए यह भी सच है कि वह छिन्न-भिन्न हो गई है। फिर भी मैं जिस नियम की सत्यता पद-पद पर सिद्ध होती देखता हूं उससे कैसे इनकार कर सकता हूं? मैं यह

मानता हूं कि यदि मैं उससे इनकार करूं तो बहुत-सी मुश्किलों से बच सकता हूं। लेकिन यह तो दुर्बुद्धि का मार्ग है। मैंने तो यह स्पष्ट पुकार कर कहा है कि मैं वर्णों को स्वीकार करने में ऊंच-नीच के भाव को स्वीकार नहीं करता। जो सच्चा ब्राह्मण है वह सेवक का भी सेवक बनकर रहता है। ब्राह्मण में भी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के गुण अवश्य ही रहते हैं। केवल उसमें ब्राह्मण के गुण, दूसरों के गुणों की अपेक्षा अधिक होने चाहिएं। लेकिन आज तो वर्ण भी कुम्हार के चाक पर चढ़े हैं और उसमें से गोल बनेगा या गागर, इसे तो विधाता ही जान सकता है या फिर ब्राह्मण।

(2) यह सच है कि मैं अपने को अद्वैतवादी मानता हूं, लेकिन द्वैतवाद का समर्थन भी मैं कर सकता हूं। संसार में प्रतिक्षण परिवर्तन होता है इसीलिए सृष्टि असत्य—अस्तित्व रहित—कही जाती है। लेकिन परिवर्तन होने पर भी उसका एक रूप ऐसा है, जिसे उसका अपना स्वरूप कह सकते हैं। इस रूप में उसकी सत्ता है, यह भी हम देख सकते हैं; इसलिए वह सत्य भी है। इस कारण उसे सत्यासत्य कहें तो भी मुझे कुछ आपत्ति नहीं। मुझे यदि इसी कारण अनेकांतवादी या स्याद्वादी माना जाए तो इसमें भी कोई आपत्ति की बात नहीं है। मैं स्याद्वाद को जैसा जानता हूं, वैसा मानता हूं। उसका रूप जो पंडित मानते हैं शायद वैसा नहीं है। वे मुझसे वादविवाद करें तो मैं हार जाऊंगा। मैंने अपने अनुभव से यह देखा है कि मैं अपनी दृष्टि से हमेशा ठीक होता हूं और प्रामाणिक टीकाकारों की दृष्टि से मेरी बहुत-सी बातों में त्रुटि होती है। किंतु मैं यह जानता हूं कि अपनी-अपनी दृष्टि से हम दोनों ही ठीक हैं। और इस प्रतीति के कारण मैं किसी को भी सहसा झूठा और कपटी नहीं मान सकता। सात अंधों ने हाथी का सात प्रकार से वर्णन किया था और वे सब अपनी-अपनी दृष्टि से ठीक थे, आपस में एक-दूसरे की दृष्टि से भूल में थे और ज्ञानी की दृष्टि में सच्चे भी थे और गलत भी। मुझे यह अनेकांतवाद बहुत प्रिय है। उससे ही मैं मुसलमान की दृष्टि से मुसलमान की और ईसाई की दृष्टि से ईसाई की परीक्षा करना सीखा हूं। मेरे विचारों को जब कोई गलत समझता था तो पहले मुझे उस पर बड़ा क्रोध आता था; लेकिन अब मैं उसके विचार पर उसकी दृष्टि से भी विचार कर पाता हूं; इसलिए मैं उससे भी प्रेम कर सकता हूं, क्योंकि मैं संसार के प्रेम का भूखा हूं। अनेकांतवाद के मूल में अहिंसा और सत्य दोनों हैं।

(3) मैं ईश्वर को जिस रूप में मानता हूं उसी रूप में उसका वर्णन करता हूं। मैं लोगों को भ्रम में डालकर अपना अधःपतन क्यों करूं? मुझे उनसे कौन-सा इनाम लेना है? मैं तो ईश्वर को कर्ता-अकर्ता मानता हूं। इसका उद्भव भी मेरे स्याद्वाद में से होता है। मैं जैनों के स्थान पर बैठकर उसका कर्तृत्व सिद्ध करता हूं और रामानुज के स्थान पर बैठकर उसका अकर्तृत्व। हम सब अचिंत्य का चिंतन करते हैं, अवर्णनीय का वर्णन करते हैं और अज्ञेय को जानना चाहते हैं। इसलिए हमारी भाषा तोतली है, अपूर्ण है और कभी-कभी तो वक्र तक हो बैठती है। इसीलिए तो ब्रह्म के लिए वेदों ने अलौकिक शब्दों की रचना की और उसको 'नेति' कहकर पुकारा है। यद्यपि वह नहीं है, फिर भी वह है। अस्ति, सत्, सत्य, 0,1,11···यह कह सकते हैं। हम लोग हैं, हमें पैदा करने वाले माता-पिता हैं और उनको भी पैदा करने वाले हैं···इसलिए सबको पैदा करने वाला भी एक है; यह मानने में कोई पाप नहीं है बल्कि पुण्य है, यह मानना धर्म है। यदि वह नहीं है, तो हम भी नहीं हैं। इसीलिए हम सब उसे एक स्वर से परमात्मा, ईश्वर, शिव, विष्णु, राम, अल्ला, खुदा, दादा होरमज, जिहोवा, गॉड इत्यादि अनेक और अनंत नामों से पुकारते हैं। वह एक है, अनेक है; अणु से भी छोटा है, और हिमालय से भी बड़ा है; समुद्र के एक बिंदु में भी समा सकता है और सात समुद्र मिलकर भी उसे अपने भीतर समाविष्ट न कर सकें, इतना विशाल है वह। उसे जानने के लिए बुद्धि का उपयोग ही क्या हो सकता है? वह तो बुद्धि से परे है। ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। मेरी बुद्धि अनेक तर्क-वितर्क कर सकती है और मैं किसी कट्टर नास्तिक से विवाद करने में हार भी सकता हूं; फिर भी मेरी श्रद्धा मेरी बुद्धि से इतनी अधिक आगे दौड़ती है कि समस्त संसार के विरोध करने पर भी मैं यही कहूंगा कि ईश्वर है, और अवश्य है।

लेकिन जिसे ईश्वर के अस्तित्व से इनकार करना हो, उसे इनकार करने का अधिकार है, क्योंकि वह तो दयालु है, रहीम है, रहमान है। वह कोई मिट्टी का बना हुआ राजा तो है नहीं कि उसे अपनी सत्ता स्वीकार कराने के लिए सिपाही रखने पड़ें। वह तो हम लोगों को स्वतंत्रता देता है, फिर भी केवल अपनी दया के बल से हम लोगों का शासन करता है। लेकिन हम लोगों में से यदि कोई उसका शासन नहीं मानता तो भी वह कहता है : 'खुशी से मेरा शासन न मानो; मेरा सूर्य तो तुम्हें भी रोशनी देगा, मेरा मेघ तो तुम्हारे लिए भी पानी बरसाएगा। मुझे अपनी सत्ता चलाने के लिए तुम पर बलात्कार करने की कोई आवश्यकता नहीं।' ऐसे ईश्वर की सत्ता को वह भले ही न माने जो नादान है; लेकिन मैं उसे मानने वाले करोड़ों बुद्धिमानों में से एक हूं, इसलिए उसको सहस्र बार प्रणाम करने पर भी नहीं थकता। ❖

रौहिणेय ने पिता की सीख याद कर अपने कान तुरंत बंद कर लिए। कहीं महावीर स्वामी का उपदेश कान में न चला जाए। तभी उसके पांव में कांटा चुभ गया। कांटे की पीड़ा सही न गई। लाचार उसने कान से उंगली हटाई और कांटा निकालने लगा। तभी महावीर के वचन उसके कान में पड़ गए—'...अब मैं देवताओं के लक्षण बताता हूं। देवताओं को पसीना नहीं आता। वे फूलों की जो मालाएं पहनते हैं, उनके फूल कभी मुरझाते नहीं हैं। उनके पांव धरती को नहीं छूते। और उनकी पलकें भी नहीं झपकतीं...।'

❑❑

बालकथा

डाकू बचा सूली चढ़ने से

❑ *राधावल्लभ त्रिपाठी* ❑

हजारों साल पहले की बात है। मगध देश में बिंबिसार नाम के राजा राज करते थे। उनके राज में सब तरफ अमन-चैन था, पर एक डाकू ने बड़ा आतंक फैला रखा था। डाकू का नाम था रौहिणेय। वह बड़ा ताकतवर और हिम्मत वाला था। चालाकी में तो वह अच्छे-अच्छों के कान काटता था। यही वजह थी कि उसे पकड़ पाना आसान न था।

चोरी-डकैती रौहिणेय का खानदानी पेशा था। उसके बाप का नाम था लौहखुर। वह भी अपने जमाने में बड़ा डकैत रहा था। उसने ही रौहिणेय को चोरी और डकैती के गुर सिखाए थे और मरते समय उसने एक आखिरी सीख भी दी थी। रौहिणेय ने वह सीख गांठ बांध कर रख ली थी।

पिता लौहखुर ने कहा था—'बेटा, तू हर तरह से होशियार है। मौका आने पर मीलों दौड़ता चला जाता है और थकता नहीं। हथियार चलाने में तेरी बराबरी का कोई नहीं। मैं तुझे डाकुओं का सरदार बना कर जा रहा हूं। पर एक बात हमेशा याद रखना। महावीर स्वामी की बातों में कभी मत आ जाना। जहां-कहीं इनको प्रवचन देते सुनो, तो कान बंद कर लो। बस, इसी में भलाई है। इनका एक शब्द भी कान में पड़ा कि समझ लो हम बरबाद हो गए।'

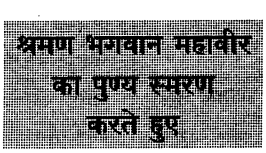
श्रमण भगवान महावीर का पुण्य स्मरण करते हुए

पिता के मरने के बाद तो रौहिणेय ने अपने काले कारनामों से राज्य में कहर ढा दिया था। वह अमीरों को ही लूटता था। गरीबों की मदद करता था। इसलिए वह कहीं भी कोई वारदात करता, गांव के गरीब लोग उसकी मदद करने के लिए सदा तैयार रहते थे। यही कारण था कि वह राजा के सिपाहियों या कोतवाल की गिरफ्त में नहीं आ पाया। वे लोग उसकी ताक में तो रहते, पर उसे पकड़ नहीं पाते।

एक बार रौहिणेय घूमने निकला। शहर के बाहर एक बढ़िया बगीचा था। वह बगीचे में पहुंच गया। बगीचे में उसने देखा कि एक सुंदर जवान औरत घूम-फिर रही है। उसका मन उस औरत पर आ गया। फिर क्या था? रौहिणेय ने अपने साथी को इशारा किया और मोर्चाबंदी की और रौहिणेय ने उस औरत को धर दबोचा। उसे पकड़ कर पलक झपकते वहां से चंपत हो गया। उस औरत का नाम था मदनवती। वह नगर के एक बड़े सेठ की बहू थी। इसके कुछ दिनों बाद रौहिणेय ने शहर में एक और वारदात की।

शहर के सबसे बड़े सेठ का नाम था सुभद्र। उसकी सेठानी का नाम मनोरमा था। उनके बेटे का ब्याह हुआ। ब्याह होने के बाद बरात लौट रही थी। रौहिणेय को पता चला तो वह अपने एक साथी को ले कर वहां पहुंच गया। दोनों बरात के जुलूस में शामिल हो गए। रौहिणेय ने तो सेठानी का भेस बना लिया और उसके साथी ने नाचने वाले का। उसके साथी ने नाचना शुरू किया, सब लोग नाच देखने लगे। इसी बीच रौहिणेय ने कपड़े का बना नकली सांप भीड़ के बीच में चुपके से उछाल दिया। सांप को देख कर सब घबरा गए। किसी को होश न रहा। तभी रौहिणेय ने गहनों और हीरे-जवाहरात से लदे दूल्हे को उठाया। उसे डरा, धमकाता हुआ वहां से भाग निकला।

इस तरह शहर में रौहिणेय के मारे अमीर लोगों का जीना दूभर हो गया। कभी किसी की लड़की गायब हो जाती, कभी किसी का बेटा या पत्नी। हीरे-जवाहरात, सोने-चांदी से अमीर लोग हाथ धो रहे थे। रौहिणेय का खजाना बढ़ता जा रहा था। डाकू रौहिणेय के अत्याचार सेठ-साहूकारों की बरदाश्त के बाहर हो गए। वे सब मिल कर राजा के पास फरियाद करने पहुंचे। राजा को पता चला कि उसके राज्य में साहूकारों को डाकू तंग कर रहा है। राजा बड़ा नाराज हुआ। उसने कोतवाल को बुला कर खूब खरी-खोटी सुनाई।

साहूकारों ने कहा—'महाराज! कोतवालजी का इसमें कोई कसूर नहीं। ये तो अपनी तरफ से प्रजाजनों की निगरानी के लिए बहुत चौकस रहते हैं। पर वह डकैत है ही ऐसा। वह लोगों की आंखों में धूल झोंकने में अव्वल है। धोखाधड़ी के खेल में उसका कोई सानी नहीं।'

कोतवाल ने अपनी तलवार महाराज के कदमों पर रखते हुए कहा 'महाराज! मेरी तो उस डकैत के मारे नींद हराम हो गई। मेरे बस में नहीं कि मैं उसके जैसे महाधूर्त को पकड़ सकूं। आप मुझे छुट्टी दीजिए और किसी और को कोतवाल बना दीजिए।'

राजा जब तक कोतवाल की बात का जवाब देता, तब तक मंत्री अभयकुमारजी राजसभा में आ पहुंचे। मंत्रीजी बड़े चतुर-सुजान थे। राजा ने उनको भी फटकार लगा दी। मंत्रीजी ने कहा—'महाराज, मैं पांच दिन के भीतर उस चोर को पकड़ कर आपके सामने हाजिर कर दूंगा।'

राजा इतना नाराज था कि उसने कहा—'मंत्री, अगर पांच दिन में उस डकैत को पकड़ कर मेरे आगे हाजिर न किया, तो मैं आपकी गरदन कटवा दूंगा।'

अब मंत्री अभयकुमार ने रौहिणेय को पकड़वाने के लिए अपनी सारी ताकत लगा दी। सारे राज्य के चप्पे-चप्पे में उसने अपने जासूसों का जाल बिछा दिया। रौहिणेय को भी अपने आदमियों से इन सब बातों की खबर मिल गई थी। मगर था वह गजब का हिम्मत वाला। मंत्री कहीं पकड़ न ले—इस बात से डरना तो दूर रहा, उल्टे उसके मन में नई बातें आने लगीं। सेठ-साहूकारों से खूब लूट-खसोट तो कर ली, अब राजमहल में ही चोरी क्यों न की जाए?

वह सांझ के समय भेस बदल कर शहर में घुसा। वह राजमहल की ओर जा रहा था। रास्ते में बगीचा था। वहां भगवान महावीर स्वामी प्रवचन कर रहे थे। रौहिणेय को अपने पिता की सीख ध्यान में आ गई। पिता ने कहा था, जहां कहीं महावीर स्वामी को प्रवचन देते सुनो, तो कान बंद कर लो। बस, इसी में भलाई है। उनका एक शब्द भी कान में पड़ा कि समझ लो बरबाद हो गए।

रौहिणेय ने पिता की सीख याद कर अपने कान तुरंत बंद कर लिए। कहीं महावीर स्वामी का उपदेश कान में न चला जाए। तभी उसके पांव में कांटा चुभ गया। कांटे की पीड़ा सही न गई। लाचार उसने कान से उंगली हटाई और कांटा निकालने लगा। तभी महावीर के वचन उसके कान में पड़ गए—'…अब मैं देवताओं के लक्षण बताता हूं। देवताओं को पसीना नहीं आता। वे फूलों की जो मालाएं पहनते हैं, उनके फूल कभी मुरझाते नहीं हैं। उनके पांव धरती को नहीं छूते। और उनकी पलकें भी नहीं झपकतीं…।'

बस, महावीर की इतनी बातें ही रौहिणेय के कान में पड़ीं। तब तक उसने कांटा खींच कर निकाल लिया। कांटा निकलते ही उसने दोनों कानों में फिर उंगलियां डाल लीं। कहीं प्रवचन के कुछ और शब्द कानों में न पड़ जाएं! उसे बड़ा पछतावा हो रहा था। वह सोच रहा था—यह क्या हो गया? मुझ से ऐसी चूक हो गई। मरते समय पिता ने कहा था कि भगवान महावीर का उपदेश मत सुन लेना। उन की आखिरी सीख मुझ से

न निभाई गई। अब जो हुआ सो हुआ, अब अपना धर्म नहीं छोड़ूंगा।

यह तय कर के रौहिणेय राजमहल की तरफ बढ़ा। रात हो गई थी। रौहिणेय छिपता हुआ राजमहल में सेंध मारने के लिए तैयार होने लगा। चारों तरफ सन्नाटा था। सुई भी पटकें तो उसकी आवाज सुनाई पड़ जाए। रौहिणेय को लग रहा था कि सारे चौकीदार-पहरेदार बेफिक्र हो कर पड़े हैं। पर बात कुछ और ही थी। मंत्री अभयकुमार रौहिणेय की खोज खबर में जी-जान से लगे थे। पूरे राज्य में पत्ता भी खड़कता तो उनको खबर होती थी। रौहिणेय शहर में घुस आए, राजमहल तक पहुंच जाए और उनको इसकी खबर ही न हो—भला ऐसा कैसे हो सकता था? उनके संतरी, पहरेदार और चौकीदार सब ऐसे चौकस हो कर छिपे थे कि रौहिणेय समझ ही न सका कि उस पर कई लोग नजर रखे हुए हैं।

वह अंधेरे में चुपचाप महल में घुसने को ही था। कि पहरेदार की कड़कड़ाती आवाज गूंजी—'कौन है उधर? रुक जा और अपना नाम बता।'

रौहिणेय ने सोचा—'अरे, मैं सोच रहा था कि यह पहरेदार सोया हुआ है। यह तो जाग रहा था और मुझ को ही ताक रहा था।'

मगर रौहिणेय आसानी से हिम्मत हारने वाला तो था नहीं। पास में ही काली का मंदिर था। उसने एक छलांग लगाई और मंदिर में जा छिपा।

जिस पहरेदार ने उसे देखा था, उसने हल्ला मचा दिया। फिर तो राजा के सिपाहियों ने मंदिर को घेर लिया। रौहिणेय ने देखा कि अब तो कहीं से बच निकलने का रास्ता नहीं है। वह तलवार खींच कर उन सिपाहियों को ललकारता हुआ, उन्हीं के बीच से सर्राकर निकल भागा। सिपाही फिर उसके पीछे दौड़े। रौहिणेय मंदिर के अहाते की दीवार फांद कर उस पार जा कूदा, पर उस पार भी मंत्री के आदमी निगरानी कर रहे थे। उन्होंने उसे धर दबोचा और पकड़ कर कैद कर लिया।

अगले दिन रौहिणेय को राजा के सामने पेश किया गया। सिपाहियों ने गवाही दी कि यह आदमी राजमहल के पास घूम रहा था। पूछने पर इसने कोई जवाब नहीं दिया। उल्टे काली-देवी के मंदिर में जा घुसा। इसलिए हमने इसे पकड़ लिया है। राजा तो गुस्से में था ही। उसने तुरंत हुक्म दिया कि इस चोर को सूली पर चढ़ा दो।

परन्तु मंत्री अभयकुमार ने कहा—'महाराज! इसके पास से चोरी का तो कोई माल बरामद हुआ नहीं, न इसकी पहचान हो पाई कि यही वह डाकू है, जिसकी हमें तलाश है। अपराध साबित हुए बिना इसे सजा कैसे दी जा सकती है?'

राजा ने कहा—'मंत्रीजी, सब जानते हैं कि यही है वह चोर, जिसने हमारी नाक में दम कर रखा है। अब क्या साबित करना है?'

मंत्री ने कहा—'महाराज! नीति तो नीति है। कानून अपनी जगह पर अपना काम करता है।'

रौहिणेय को लगा कि बचने की अब उम्मीद है। कोई जुगत भिड़ानी चाहिए। वह राजा के आगे गिड़गिड़ा कर बोला—'दुहाई हो महाराज! मेरे ऊपर जुल्म न करें। सरकार! मैं कोई चोर-डाकू नहीं, पास के गांव का सीधा-सादा किसान हूं। मेरे गांव का नाम शालि गांव है। मेरा नाम दुर्गा है। गांव में मेरा घर-परिवार है। मैं बहुत गरीब आदमी हूं, महाराज! छल-कपट बिल्कुल नहीं जानता। शहर में काम से आया। घूम-घाम कर सांझ के समय कालीजी के मंदिर में चला गया। बस, यही कसूर हो गया महाराज मुझसे। मुझे नहीं मालूम कि मुझ को कालीजी के मंदिर में सिपाहियों ने एकदम से क्यों घेर लिया? मैं तो घबरा ही गया जी, घबराहट के मारे कुछ सूझा नहीं तो मैं मंदिर की दीवार पर जा चढ़ा और दूसरी तरफ कूदा। आप चाहें तो शालि गांव में किसी को भेज कर पुछवा लीजिए। दुर्गा नाम का किसान वहां रहता है या नहीं।'

राजा ने तुरंत शालि गांव में अपने आदमियों को भेजा। लौट कर उन्होंने बताया कि गांव में पूछताछ की तो गांववालों ने कहा है कि दुर्गा नाम का किसान इसी गांव में रहता है, पर इस समय वह गांव में नहीं है।

राजा ने कहा—'मंत्रीजी! यह डाकू तो बड़ा चतुर-चालाक निकला। इसने गांववालों को साथ मिला रखा है। पर अब अधिक सोच-विचार मत कीजिए, इसे सूली पर चढ़ा ही दें।'

मंत्री ने कहा—'नहीं महाराज! नीति का पालन तो करना ही चाहिए। या तो यह डाकू खुद अपनी

असलियत बता दे, या फिर इसके खिलाफ ऐसा गवाह मिले, जिसने इसे चोरी या डकैती करते देखा हो। उसके बिना हम इसे सजा कैसे दे दें?'

राजा ने कहा—'तो फिर इससे अपना अपराध कबूल कराने का उपाय करें।'

मंत्री ने यह चुनौती भी मान ली। उसने रौहिणेय को एक अच्छे महल में कैद करवा दिया। उसकी खूब खातिर होनी शुरू हुई। रौहिणेय ने ऐसे राज़सी सुख कभी नहीं भोगे थे। वह ऐशो-आराम में डूब गया।

मंत्री अभयकुमार ने एक रोज शाम को उसे खूब शराब पिलवाई। रौहिणेय ने छक कर शराब पी। वह नशे में एकदम धुत हो गया। होशोहवास भी न रहे। मंत्री की योजना के अनुसार उसे महल के एक ऐसे कमरे में ले जा कर सुला दिया गया, जो स्वर्ग जैसे दृश्यों से सजा हुआ था।

रौहिणेय की नींद खुली। उसने देखा कि उसके चारों ओर गंधर्व और अप्सराएं नाच-गा रहे हैं। असल में वे गंधर्व और अप्सराएं नहीं थे। वे तो मंत्री अभयकुमार के भिजवाए गवैये-नचैये थे। उसकी आंख खुली देखकर वे उसके पास आ गए। उन्होंने बहुत मधुर स्वर में गाते-गाते कहा—'स्वागत है, स्वागत है। इस स्वर्गपुरी में हम गंधर्व और अप्सराएं आपका स्वागत करते हैं। अभी हमारे महाराज, देवताओं के राजा इंद्र आपसे मिलने आएंगे।'

रौहिणेय तो नशे में पड़ा था। नशे का असर अभी बना हुआ था। उसके मन में आया—'तो क्या राजा ने मुझे फांसी पर चढ़वा दिया? और मैं स्वर्ग में आ पहुंचा?'

उसे सोच-विचार में पड़ा देख कर गवैये-नचैये और साथ खड़ी सुंदरियां उसकी प्रशंसा के पुल बांधने लगीं। उसे तरह-तरह से रिझाने लगीं। रौहिणेय भी उनके संग राग-रंग में डूब गया। वह उनसे हंसी-ठिठौली करने लगा। जब उन लोगों ने देखा कि रौहिणेय पूरी तरह भ्रम में पड़ गया है, तो उनमें से एक नचैया इंद्र का दूत बन कर उसके सामने आया और बोला—'देवराज इंद्र चाहते हैं कि स्वर्ग के देवता के रूप में आपका अभिषेक हो। और इसके लिए धरती पर जो भी अच्छे-बुरे कार्य आपने किए हैं, उनका खुलासा करना पड़ेगा। तो बताइए, धरती पर मनुष्य की योनि में आप कौन थे? क्या करते थे? यह सब बता दीजिए। इसके बाद इंद्र महाराज स्वयं आपके पास आएंगे। वे आ कर आपको इस स्वर्गपुरी में देवता के रूप में सम्मान देंगे।'

अब तक रौहिणेय का नशा कम पड़ने लगा था। उस को तनिक खटका हुआ। उसे लगा कि उस चतुर मंत्री ने कहीं मुझे फंसाने के लिए जाल तो नहीं बिछा लिया? पर सारा वातावरण ऐसा दिव्य था कि मन संदेह करने का होता नहीं था। उसका मन हुआ कि एक बार सच-सच बता दे कि वह धरती पर डाकू रौहिणेय रहा है। उसने तो न जाने कितनी चोरियां, डकैतियां, अपहरण आदि काम किए हैं।

पर तभी रौहिणेय को महावीर स्वामी के सुने वचन याद आ गए। उन्होंने कहा था—'देवताओं को पसीना नहीं आता। वे फूलों की जो मालाएं पहनते हैं, उनके फूल कभी मुरझाते नहीं हैं। उनके पांव धरती को नहीं छूते और उनकी पलकें भी नहीं झपकतीं।' उसने देखा कि सामने जो लोग देवी-देवताओं, गंधर्वों और अप्सराओं का भेस धर कर नाच-गा रहे हैं, उनकी पलकें तो झपक रही हैं। उनको पसीना भी आ रहा है। उनकी मालाओं के फूल कुम्हला गए हैं। अब उसे भरोसा हो गया कि यह तो उसे फंसाने के लिए ही जाल बिछाया गया है।

रौहिणेय ने डींग हांकते हुए कहा—'अरे देवताओं, देवियों और गंधर्व-अप्सराओं! धरती पर रह कर मैंने हमेशा अच्छे-अच्छे काम किए। दीन-दुखियों की सदा सहायता की और पुण्य कर्म करता रहा। तुम लोग ही बताओ, मैं कोई पापी होता तो स्वर्ग के भीतर मुझे भला घुसने भी दिया जाता?'

अप्सराओं का भेस धरने वाली सुंदरियों ने अभी भी हार न मानी। उन्होंने कहा—'वह तो ठीक है महाराज! पर धरती तो है ही पापभूमि। काल की कोठरी में रह कर कालिख से कौन बच सकता है? गलती तो हर इंसान से हो जाती है। कभी कोई चोरी-चकारी आप से हो गई हो तो बता दीजिए। स्वर्ग में आने के बाद आप जितनी जल्दी छोटे-छोटे पापों को स्वीकार कर लेंगे उतनी ही जल्दी देवराज इंद्र आपको क्षमा कर देंगे और आपको स्वर्ग में स्थान दे देंगे।'

रौहिणेय ने कहा—'आप लोग कैसी बात कर रही हैं? पाप से मैं हमेशा कोसों दूर रहा। बुरे विचारों

की छाया भी मुझे न छू सकी। आप लोग ठहरे देवता! आप लोग तो भीतर की बात भी जानते हैं। भला मेरे चरित्र में कोई खोट हो तो वह आप से छिपी रहेगी?'

गंधर्व बने हुए एक नचैये ने कहा—'कभी किसी स्त्री का अपहरण किया हो या कोई चोरी की हो—याद कर लीजिए।'

रौहिणेय हंसते हुए बोला—'कैसी बात करते हो मेरे भाई! हम ठहरे संतों के कदमों पर चलने वाले, उनके वचनों को मानने वाले और जब आप लोगों ने कह ही दिया है कि जो भी पाप किए हों, उन्हें बिना छिपाए बता देना है, तभी देवताओं के राजा इंद्र हमें दर्शन देंगे, तो हमें फिर बताने में काहे का संकोच होता? हम तो इंद्र-महाराज का दर्शन पा कर धन्य होना चाहते हैं।'

नचैयों की मंडली ने हार मान ली। 'धन्य है, धन्य है!' कहते हुए वो लोग माथा झुका कर वहां से खिसक लिए और मंत्री को सारा हाल बताया।

अब मंत्री राजा के पास पहुंचा। उसने राजा से कहा—'महाराज! मैंने सब उपाय कर के देख लिए। हम डाकू रौहिणेय से उसके मन का भेद न खुलवा सके। हमारे पास कोई सबूत नहीं है कि यही डाकू रौहिणेय है। अब मेरी आप से प्रार्थना है कि इसे छोड़ दिया जाए।'

राजा ने कहा—'क्या कहते हो? हम और तुम समझ रहे हैं कि यही रौहिणेय डाकू है, पर सबूत नहीं हैं इसीलिए इसे फिर से खुला छोड़ दें? किसी तरह तो पकड़ में आया है।'

मंत्री ने कहा—'महाराज! न्याय की बात तो यही है। फिर जैसा आप आदेश करें।'

राजा ने कहा—'यदि यही न्याय है, तो हम अन्याय न होने देंगे। हम लोग इसके मुंह से सच न बुलवा सके, इसका मुझे अफसोस रहेगा।'

मंत्री बोले—'महाराज! सच तो वह कह देगा, पर उसे आपको अभयदान देना पड़ेगा।'

राजा बोला—'तो यही करो।'

राजा के आदेश से रौहिणेय को फिर से दरबार में लाया गया। राजा ने उससे कहा—'सुनो भाई! तुम ने हमारे नगर में खूब लूट-खसोट की। बड़ा उत्पात मचाया—यह हम जानते हैं, पर न्याय की बात यह है कि तुम्हारे खिलाफ न कोई गवाह मिल सका, न कोई सबूत। इसलिए हम तुम्हें छोड़ रहे हैं। पर, जाते-जाते एक बात बता जाओ। क्या तुम ही रौहिणेय डाकू नहीं हो?'

रोहिणेय ने पूछा—'महाराज! सच-सच बता दूं? आप सजा तो न देंगे?'

राजा ने कहा—'हमारा वचन झूठा नहीं होता। अब तुम्हारा बाल भी बांका न होगा। सच्ची बात बेखटके बता दो।'

रौहिणेय ने कहा—'महाराज! सच्ची बात यही है कि रौहिणेय डाकू मैं ही हूं। न जाने कितने सेठों के घर से मैंने धन-संपदा लूटी, कई स्त्रियों को पकड़ कर मैं ले गया। शहर के बाहर जंगल में एक गुफा है। उसमें मैंने अपना खजाना रखा हुआ है। जिन लोगों को मैंने बंधक बनाया है, वे भी उसी गुफा में कैद हैं।'

राजा ने पूछा—'क्या तुम हम लोगों को अपना खजाना दिखा सकते हो?'

रौहिणेय बोला—'महाराज! अब मैं तो वहां न जाऊंगा। हां, गुफा का पता आपको बता देता हूं। आप अपने सेवकों को भेज कर वहां से सारी धन-संपदा ले सकते हैं। वह सब धन-दौलत जिनकी है, उन्हें आप लौटा दीजिए।'

राजा हक्का-बक्का हो कर रौहिणेय को ताकता रह गया। फिर पूछा—'तो तुम कहां जाओगे भाई? और अपनी धन-संपदा क्यों लौटा रहे हो? हमने तो तुम्हें अभयदान दे दिया, सो दे दिया। हम तुम्हें अब कुछ न कहेंगे। वह सारी संपदा तुम रख सकते हो।'

रौहिणेय बोला—'नहीं महाराज! मैं तो अब उन महावीर स्वामी के पास जाऊंगा, जिनके वचन सुन कर ही मेरे प्राण बचे हैं। उनका एक वचन मेरे कानों में पड़ गया और उसके कारण मैं सूली पर चढ़ने से बच गया। जब उनका एक वचन सुनने से प्राण बच सकता है, तो उनकी सारी बातें सुनने से मैं धन्य ही हो जाऊंगा। इसलिए मैं उन्हीं के पास जा रहा हूं।'

यह कह कर रौहिणेय ने उन सब लोगों को प्रणाम किया और भगवान महावीर स्वामी के पास दीक्षा लेने के लिए चल दिया। ❖

घर-परिवार और मित्र-परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक-नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं।

जन्म-दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

जैन भारती, अक्टूबर, 2003 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर / 11/48/03-05

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

SKF

Bearing is not our only business.

CR

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Kolkata 700001, Ph-2220-1926/0640, Fax-22485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

तरुण सेठिया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।